प्रीत किये

परवश भये

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान) पिन-३१३००१

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २८३वां पुष्प

- पुस्तक
  प्रीत किये परवश भये
- लेखक
  उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी
- सम्पादक
  डॉ० लक्ष्मण भटनागर
- प्रथमावृत्ति
  वि. सं. २०४८, कार्तिक
  ईस्वी सन् १९९१ नवम्बर
- प्रकाशक—प्राप्ति स्थान
  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  शास्त्री सर्कल
  जि. उदयपुर (राज०)
- मुद्रण
  संजय सुराना द्वारा
  कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
  ए-७, अवागढ़ हाऊस,
  एम. जी. रोड, आगरा-२८२००२
- मूल्य 30/-
  रुपये रुपया मात्र

प्रकाशकीय

साहित्य की अनेक विधाओं में "उपन्यास" विधा एक रोचक और सशक्त विधा है। कथा से वृहद् आकार में होने के कारण इसका घटनाक्रम विस्तृत और जीवन को समग्र रूप में वेष्टित किये होता है।

प्राचीन समय में इसी शैली में अनेक महाकथाओं का प्रणयन हुआ, जैसे—कुवलयमाला महाकथा, महाबल-मलयसुन्दरी चरित्र, चन्द चरित्र, श्रीपाल-मैनासुन्दरी चरित्र तथा तरंगलोला महाकाव्य आदि। प्राचीन महाकथाओं की घटना तथा पात्रों को नये रूप में प्रस्तुत करके ही एक अतीव सरस, तथा सशक्त प्रयास है प्रस्तुत **'प्रीत किये परवश भये।'**

प्रसिद्ध रस-कथा तरंगवती के घटनाक्रम पर आधारित आधुनिक स्वकथ्यात्मक शैली में गुम्फित यह उपन्यास अनेकों रसों का संगम है। शान्तरस की मुख्यता होते हुए भी अद्भुत रस, वीर रस, कहीं-कहीं प्रासंगिक हास्य एवं शृंगार रस भी इसमें समविष्ट है। प्रायः सभी रसों का मधुर सम्मिश्रण होने पर फलितार्थ में शान्त रस का ही उदय होता है और पाठक को जीवन की शाश्वत—मानव-मन की चिन्तन समस्याओं का समाधान मिलता है प्रस्तुत उपन्यास में।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज की सिद्धहस्त लेखनी से प्रसूत प्रस्तुत "प्रीत किये परवश भये" उपन्यास प्रीत के बन्धन को तोड़कर मुक्ति की ओर बढ़ने का एक अमर सन्देश सुनाता है।

आशा और विश्वास है, पाठकों को प्राचीन कथा पात्रों के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान जीवन की प्रासंगिकता अनुभव होगी और विमुक्ति की प्रेरणा भी मिलेगी।

हमारे प्रकाशनों में यह अभिनव प्रकाशन सभी को रुचिकर लगेगा।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

उदार सहयोग दाता

श्रीमती सौभाग्यवती सुशीलादेवी
धर्मपत्नी; श्री रतनलालजी धोका, रायचूर
(कर्नाटक)

श्रीमान के. गूदड़मल जी
८०, मेन बाजार, वेलूर (तमिलनाडु)

सौभाग्यवती मालती बेन रमेश भाई शाह
दिल्ली

सौभाग्यवती श्रीमती विजयाबाई मांगीलाल जी सोलंकी
पूना (महाराष्ट्र)

उक्त दानी सज्जनों ने ज्ञान प्रसार की भावना के साथ प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद।

तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

लेखकीय

साहित्य का उद्भव

मानव जाति की सबसे बड़ी उपलब्धि है—स्पष्ट वाणी। पश्चिमी विद्वान इसे प्रकृति का वरदान मानते हैं, ईश्वरवादी ईश्वरीय देन; जबकि जैन सिद्धान्त इसे कर्म-क्षयोपशमजन्य विशिष्ट उपलब्धि कहता है।

निमित्त कोई भी हो लेकिन वाणी की स्पष्टता, ध्वनि (phoneticity) विशिष्टता निश्चित रूप से मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का प्रमुख उपादान रहा है, इसमें सहयोग दिया लिपि विज्ञान ने, जिसका आविष्कार स्वयं मानव ने ही किया।

लिपि के आविष्कार ने मानव-सभ्यता और संस्कृति में एक विशेष प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मानव अपने मन की भावनाओं और चिन्तन को लिपिबद्ध करने लगा। उसके विचारों को, चिन्तन-अनुभव और विभिन्न प्रकार की घटनाओं को स्थायित्व मिला, वे चिरस्थायी हुईं। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में नया सृजन और नई समृद्धि को अवकाश मिला।

साहित्य की अनेक विधाएं

जिस प्रकार छोटे-से बीज से वटवृक्ष उत्पन्न होता है और फिर उससे विभिन्न डालियां, शाखाएँ, प्रशाखाएँ, उपशाखाएँ, टहनियाँ आदि का विस्तार होता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों साहित्य विकसित हुआ, उसकी भी अनेक विधाएँ अस्तित्व में आईं। यथा—कथा, कहानी, उपन्यास, काव्य, दृश्य काव्य (नाटक), निबन्ध आदि-आदि।

काव्य के भी खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि अनेक रूपान्तर हुए। आधुनिक युग में मुक्तक, क्षणिका आदि एवं अतुकांत काव्य का प्रचलन हुआ।

पद्य काव्य के साथ-साथ अथवा उसके कुछ समय बाद साहित्य की दूसरी प्रमुख विधा गद्य—का प्रचलन हुआ। गद्य को पद्य के साथ मिला-

कर जो रचनाएँ प्राचीन काल में हुईं, उन्हें चम्पू कहा गया। इनमें गद्य और पद्य अलग-अलग मिलते हैं—शुद्ध रूप में पद्य और गद्य भी अपने शुद्ध रूप में। लेकिन आधुनिक युग (विशेष रूप से २०वीं सदी) में गद्य-मय-पद्य अस्तित्व में आया। यह गद्य-पद्य का मिश्रित रूप है, जिसमें रचनाकार का चिन्तन ही प्रमुख है।

शुद्ध गद्य निबन्ध, कथा, कहानी, उपन्यास के रूप में विकसित हुआ। निबन्ध में रचनाकार का अपना चिन्तन एवं ज्ञान प्रमुख होता है तथा कथा कहानी-उपन्यास आदि किसी न किसी घटना पर आधारित होते हैं। इनमें रचनाकार का कौशल, कल्पनाशीलता, रसानुभूति, भाषा का लालित्य, मधुरता, ओज, व्यंग, वर्णन शैली की विशिष्टता इसे रोचकता प्रदान करती है।

साहित्य का स्थायित्व

विश्व वाङ्मय में वही साहित्य स्थायित्व प्राप्त कर पाता है, जिसमें व्यंजकता, रोचकता, सर्वजनहिताय, लोक-कल्याण की प्रेरणा हो। जो मानव की सद्वृत्तियों को उभारे, दुष्प्रवृत्तियों को निर्मूलकरे, जिसका लक्ष्य अथवा उद्देश्य मानव-कल्याण हो।

साथ ही रोचकता भी एक अन्यतम तत्त्व है। रोचकता का उत्स जीवन की संघर्षमय परिस्थितियाँ हैं, इन विपरीत और विषम परिस्थितियों से जूझकर, अपने बुद्धि कौशल और चातुर्य से विषमता से समता की ओर बढ़ना, समत्व प्राप्त करके अपने जीवन के कल्याण पथ पर दृढ़ कदम बढ़ाना —यह ऐसा तत्त्व है, जो साहित्य को स्थायित्व प्रदान करता है।

विद्वानों ने इस प्रकार के साहित्य को आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद का अभिधान दिया है।

रामायण, महाभारत, ओडिसी, ईलियड आदि जितने भी काव्य तथा उन पर आधारित कहानियाँ, प्रसंग आदि हैं, उन सब में यही शैली अथवा साहित्य-विधा के दर्शन होते हैं।

तथ्य यह है कि मानव जीवन संघर्षपूर्ण है। इसी कारण उसे ऐसा ही साहित्य प्रिय लगता है। वह मन में अनुभव करता है—जैसे इन घटनाओं से मैं स्वयं जुड़ा हूँ और यही जुड़ाव उसको संप्रेरित करके उस कृति को हृदयंगम करने का कारण बनता है। परिणामस्वरूप साहित्य को स्थायित्व प्राप्त होता है।

घटनाप्रधान काव्य, कथा आदि से मानव पर सर्वाधिक प्रभाव उनके पात्रों का होता है। कुछ पात्र तथा उनके चरित्र, क्रिया-कलाप, उनके विशिष्ट गुण इतने प्रभावशाली होते हैं कि मानव अपने जीवन में भुला नहीं पाता। कुछ रचनाएँ अपनी रसप्रियता के कारण लोकमानस में गहरी पैठ जाती हैं, वह भी स्थायी हो जाती हैं।

तरंगवती अथवा तरंगलोला

तरंगवती अथवा तरंगलोला भी ऐसी कृति है, जिसमें पात्रों के चरित्र की प्रभावशीलता के साथ रसमयता भी समन्वित है। दोनों का सुन्दर सामंजस्य गुम्फित है।

मानव की विशेष रूप से प्रमुख दो प्रवृत्तियाँ हैं—राग और विराग। राग का अभिप्राय है—सांसारिकता, किसी व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष से प्रेम और विराग इन सबसे अरुचि, अरति, उदासीनता, राग के अभाव को कहा जाता है।

इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को इस रचना में बड़े कौशल और रसमयता के साथ निबद्ध किया गया है। यही कारण है कि जैन संसार में यह कथा बहुत ही लोकप्रिय हुई है।

इस रचना की विशिष्ट रसमयता से प्रभावित होकर ही जर्मन विद्वान अर्नेष्ट लायमन ने इसका अनुवाद जर्मन भाषा में किया और इस ग्रन्थ रत्न की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

तरंगवती अथवा तरंगलोला की ऐतिहासिकता[1]

ऐतिहासिकता वह तत्त्व है जो किसी कथा की प्रामाणिकता की पुष्टि करता है। यह कथा का सुदृढ़ आधार भी है। तरंगवती का कथानक भी काफी प्राचीन है। यह प्राकृत कथा साहित्य की सबसे प्राचीन कथा है।

इसका उल्लेख अनुयोगद्वार सूत्र (१३०), दशवैकालिकचूर्णि (३, पृ० १०६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा १५०८) में मिलता है। निशीथ चूर्णि में इसे लोकोत्तर कथा कहा गया है।

उद्योतन सूरि ने चक्रवाल युगल से युक्त सुन्दर राजहंसों को आनन्दित करने वाली तरंगवती की प्रशंसा की है और इसे संकीर्ण कथा कहा है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ३३४-३३६ से सारांश-ग्रहण।

इसी प्रकार धनपाल कवि ने तिलकमंजरी में, लक्ष्मणगणी ने सुपास-नाहचरिय में तथा प्रभाचन्द्र सूरि ने उदात्त स्वरों में तरंगवती का स्मरण किया है।

इस प्रकार इस कथा-प्रसंग का नैरन्तर्य अबाधित रहा है।

रचनाकार और उनका काल

प्रस्तुत तरंगवती कथा के आदि रचनाकार आचार्य पादलिप्त सूरि हैं। ये राजा सातवाहन की गोष्ठी की शोभा थे। राजा सातवाहन का समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी रहा है। आचार्य पादलिप्त सूरि का भी वही काल है। अतः तरंगवती कथा के प्रणयन का काल भी दूसरी-तीसरी शताब्दी निश्चित होता है। यही काल विण्टरनित्स ने हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग २, पृ० ५२२ में स्वीकृत किया है तथा जर्मन विद्वान अर्नेष्ट लायमन ने भी माना है।

इस प्राचीन रचना को आधार बनाकर वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र गणी ने तरंगलोला के नाम से इसका प्राकृत पद्यों में प्रणयन किया और अपने शिष्य यश को स्वाध्याय के लिए दिया।

पादलिप्त सूरि और नेमिचन्द्र गणी के समय में १००० वर्ष का अन्तराल माना जाता है।

नेमिचन्द्र गणी ने पादलिप्तसूरि रचित तरंगवती कथा के लिए अपना मन्तव्य व्यक्त किया है कि श्री पादलिप्त सूरि ने तरंगवती की रचना (तत्कालीन) देशी भाषा में की थी जो अद्भुत रस सम्पन्न और केवल विद्वद्-भोग्य थी।

इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पादलिप्त सूरि रचित तरंगवती की कोई प्रतिलिपि नेमिचन्द्र गणी के समक्ष अवश्य रही होगी तभी वे अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से स्थिर कर सके।

देश की उस समय की परिस्थितियों में किसी रचना का १००० वर्ष तक अवस्थित रहना, उसकी श्रेष्ठता, लोकप्रियता, प्रेरणात्मकता का बहुत बड़ा प्रमाण है और इसकी ऐतिहासिकता को सबल रूप से निर्धारित करता है।

कथासार

तरंगवती अथवा तरंगलोला का कथानक बहुत ही संक्षिप्त है। इसमें

घटनाओं की प्रधानता नहीं; अपितु भावात्मकता ही प्रमुख रही है, हृदय की कोमल भावनाओं का स्पन्दन है।

प्रस्तुत कथा दो जन्मों के वितान पर विस्तृत है।

प्रथम भव में चक्रवाक और चक्रवाकी का एकनिष्ठ प्रेम वर्णित हुआ है। शिकारी के बाण से चक्रवाक की मृत्यु हो जाती है। उस समय चक्रवाकी का करुण क्रन्दन हृदय को झकझोर देता है। शिकारी को भी घोर दुःख होता है। वह चिता बनाकर उसमें चक्रवाक के शरीर का दाह करता है और शोक के अतिरेक में स्वयं भी भस्म हो जाता है। चक्रवाकी भी जलती चिता में झंपापात करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देती है।

चक्रवाकी कौशाम्बी के नगरश्रेष्ठी की पुत्री बनती है। उसका नाम तरंगवती अथवा तरंगलोला रखा जाता है। चक्रवाक भी उसी नगर के धनाढ्य सार्थवाह के घर में जन्म लेता है, उसका नाम पद्मदेव रखा जाता है।

वह शिकारी काशी के एक धर्मवीर श्रेष्ठी के घर में जन्म लेता है। नाम उसका रुद्रयश है। किन्तु पिछले जन्म (शिकारी के जन्म) के संस्कारों के प्रभाव से दस्युवृत्ति ग्रहण करके दस्युओं का छोटा सरदार बन जाता है।

पिछले जन्म के संस्कार (प्रेम संस्कार) किशोरावस्था प्राप्त होते ही तरंगवती में भी उदित होते हैं। वह यमुना की लहरों को देखकर अचेत हो जाती है। चक्रवाक युगल को देखकर उसे अपने पूर्व जन्म की स्मृति हो आती है और वह अपने पूर्वभव के चक्रवाक से मिलने को तड़पने लगती है। प्रेमी चक्रवाक की खोज के लिए चित्रमाला की रचना करती है, जिसमें अपने पूर्वजन्म के दृश्य दिखाती है।

उस चित्रमाला को देखकर पद्मदेव को भी पूर्वजन्म का सहज स्मरण हो आता है। वह भी अपने पूर्वभव की चक्रवाकी—तरंगवती को प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठता है।

विवाह के लिए पिता की अनुमति प्राप्त न होने पर तरंगवती अपने प्रेमी पद्मदेव के साथ भाग निकलती है। वे आपस में गांधर्व विवाह कर लेते हैं।

लेकिन यमुना पार करने पर दूसरे किनारे पर पहुँचते ही दस्युओं द्वारा पकड़ लिए जाते हैं, बड़ी दुर्दशा होती है। तरंग को काली देवी (माई) के सामने बलि चढ़ाने की योजना दस्यु दल का बड़ा सरदार बनाता है।

बन्दी दशा में तरंग एक अन्य वृद्धा वन्दिनी को अपने इस जन्म और पूर्वजन्म (चक्रवाक-चक्रवाकी जन्म) की कथा विस्तारपूर्वक सुनाती है, जिसे छोटा सरदार रुद्रयश छिप कर सुन लेता है। उसे भी अपने पूर्वजन्म (शिकारी जन्म) का स्मरण हो आता है।

उसके हृदय में इनके प्रति सहानुभूति जागती है। वह अपने प्राणों की बाजी लगाकर इन्हें दस्यु-क्षेत्र से बाहर निकाल देता है। तत्पश्चात तरंग और पद्मदेव का विवाह उनके पिता हँसी-खुशी कर देते हैं। दोनों ही दस-बारह वर्ष तक दाम्पत्य सुख भोगते हैं।

कथा का यह पूर्वांश है, जिसमें प्रीति, प्रेम, शृंगार की प्रधानता और राग की प्रमुखता है।

अब विराग का प्रारम्भ होता है। दस्यु रुद्रयश एक महातेजस्वी श्रमण की शरण ग्रहण करके श्रमण बनता है और आत्म-कल्याण के पथ पर दृढ़ कदम बढ़ाता है।

वे श्रमण कौशाम्बी में पधारते हैं। उनके सान्निध्य से तरंगवती और पद्मदेव के हृदय में भी वैराग्य की मन्दाकिनी प्रवाहित हो जाती है। वे भी संसार-त्यागी श्रमण-श्रमणी बन जाते हैं। तरंगवती साध्वी चन्दनबाला के संघ में सम्मिलित होकर आर्या सुव्रता की शिष्या बन जाती है।

राजगृह की एक सेठानी श्राविका सोमावती की जिज्ञासा पर साध्वी जी यह समस्त इतिवृत्त/अपना आत्म कथ्य सुनाती हैं। सेठानी सोमावती भी प्रभावित होकर श्राविका व्रत ग्रहण करती है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण कथा आत्म-कथ्य शैली में वर्णित की गई है।

यह उत्तरार्ध विराग से ओत प्रोत है।

एक प्रश्न

साधारण मानव के मन-मस्तिष्क को यहाँ एक प्रश्न झकझोरता है कि तरंगवती और पद्मदेव का इतना गहरा राग, जो दो जन्मों तक निरंतर चलता रहा, वह अचानक ही विराग में कैसे परिवर्तित हो गया, तरंग और पद्मदेव का पारस्परिक गहरा प्रेम, कच्चे धागे के समान कैसे टूट गया ?

यहाँ मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त के आधार पर समाधान उचित होगा कि मानव (यहाँ तक कि प्राणिमात्र में भी) मस्तिष्क तथा हृदय में दो प्रकार की विरोधी वृत्तियाँ एक साथ अवस्थित रहती हैं, यथा - प्रेम और द्वेष, प्रियता और घृणा, शान्ति तथा संघर्ष आदि-आदि। साथ ही जो

वृत्ति जितनी गहरी होती है, उसकी विरोधी वृत्ति भी उतनी ही गहरी होती है। यह बात अलग है कि दबी हुई वृत्ति को उभरने का अवसर ही न मिले, वह मन की परतों के अन्दर छिपी रहे।

इसका सर्वश्रुत उदाहरण तुलसीदास का है, उनका पत्नी-प्रेम राम की भक्ति में परिणत हो गया, लौटकर पत्नी का मुँह भी नहीं देखा। आधुनिक युग में कई एकनिष्ठ प्रेमी अपनी प्रेमिका को छोड़कर भाग जाते हैं और कई तो प्रेम पात्र की हत्या तक कर देते हैं।

तथ्य यह है कि उत्कटता में द्वन्द्व नहीं होता। उत्कट रागी अथवा प्रेमी और उत्कट विरागी द्वन्द्वातीत होते हैं। द्वन्द्व की स्थिति में ऊहापोह चलता है। व्यक्ति सोचता है—यह करूँ या न करूँ ? विराग लेने के समय भी यही सोचता है—मैं दीक्षा ले लूंगा तो मेरे पारिवारिकजनों का क्या होगा ? युद्ध में जाते समय यदि यह विचार उठे कि मैं जीऊँगा या मरूँगा ? यह स्थिति दृढ़ता की घातक होती है, व्यक्ति कुछ नहीं कर पाता, असमंजस में ही पड़ा रहता है। साधारण व्यक्तियों की यही स्थिति होती है।

लेकिन जिनकी वृत्तियाँ मन-मस्तिष्क की गहराई से जुड़ी होती हैं, वे निर्द्वन्द्व होते हैं। निर्द्वन्द्वता उनको निर्भीक व दृढ़ बनाती है, एक क्षण में ही दो टूक निर्णय लेकर उस पर दृढ़ हो जाते हैं, फिर उन पर संसार की किसी बात का प्रभाव नहीं होता, वे सांसारिकता से विलग हो जाते हैं।

फिर राग-विराग में अन्तर ही क्या है ? मन-मस्तिष्क का मुड़ाव ही तो है। प्रेमी के प्रति प्रेम की गहरी वृत्ति अपने आत्म-कल्याण से संलग्न हो जाती है।

तरंगवती और पद्मदेव के साथ भी यही सत्य घटित हुआ है।

कथा का उद्देश्य

सम्पूर्ण जैन कथा साहित्य का उद्देश्य तो एक ही है—सांसारिकता से विमुख करके मुक्ति पथ पर लगाना। कथा के प्रारम्भ में, मध्य में शृंगार, वीर आदि कितने ही रसों का वर्णन हो, रहस्य-रोमांच-रोमांस भी हो, लेकिन उसकी अन्तिम परिणति वैराग्यजन्य शान्त रस में होती है।

तरंगवती अथवा तरंगलोला कथा का भी यही उद्देश्य है। पहले प्रेम का अतिरेक दिखाया गया, चक्रवाकी के आत्मदाह में प्रेम की एक-निष्ठता से रोमांच की सृष्टि हुई, यमुना की लहरों को देखकर तरंगवती की मूर्च्छा से रहस्य गहराया, घर से भाग जाने पर वीभत्स और करुण

रस की सृष्टि हुई, विवाह होने पर उनका प्रेम परवान चढ़ा, यह कथा का चरम (क्लाइमेक्स) था। उसके बाद तो उतार आना ही था और वह वैराग्य के रूप में प्रगट हुआ, जन्म-जन्म का मोह एक झटके से टूटा और शान्त रस की गंगा उनके तन-मन-वचन-आत्मा में लहराने लगी।

मेरा यह उपक्रम

मैंने इस सुललित, प्राचीन और विभिन्न प्रकार के रसों से आप्लावित कथा को उपन्यास के रूप में ढाला है। मूलकृति की शैली की रक्षा करते हुए मैंने भी इसे आत्म-कथात्मक शैली में ही प्रस्तुत किया है। संपूर्ण वृत्तान्त साध्वीजी (जो स्वयं इस जन्म की तरंगवती है) के मुख से राजगृह की सेठानी सोमावती की जिज्ञासा पर उद्घाटित करवाया गया है।

यद्यपि उपन्यास विधा में आत्मकथ्यात्मक शैली कुछ कठिन है, तथापि मैंने सर्वत्र सरलता, सहजता रखने का प्रयास किया है। भाषा-शैली में प्रवाह बना रहे यह भी ध्यान रखा है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट आनन्द ऋषिजी महाराज तथा परमादरणीय उपाध्याय पूज्य गुरुदेवश्री पुष्कर मुनि जी महाराज की असीम कृपा के फलस्वरूप ही संघ का तथा साहित्य का कार्य सुचारु रूप से कर रहा हूँ। डॉ० लक्ष्मण जी भटनागर के कलम का स्पर्श न होता तो संभव है यह उपन्यास कुछ विलम्ब से प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में पहुँच पाता। पर उनके हार्दिक सहयोग को विस्मृत नहीं किया जा सकता। तथा स्नेहमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना को भी भुलाया नहीं जा सकता जिन्होंने मुद्रण कला की दृष्टि से पुस्तक को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास किया है।

मुझे विश्वास है कि मेरी अन्य कृतियों के समान प्रस्तुत कृति 'प्रीत किये, परवश भये' का सर्वत्र आदर होगा और पाठकगण इसे चाव से पढ़ेंगे।

कार्तिक सुदी १४ —उपाचार्य देवेन्द्र मुनि
श्री तारक गुरु पुण्य तिथि
जैन कोट स्थानक
पीपाड सिटी

प्रीत किये परवश भये

१

प्रीत किये परवश भए

सघन वानस्पतिक वैभव से शोभित सुन्दर वनखण्ड""सर्वत्र हरीतिमा का साम्राज्य। दूर-दूर तक कहीं भी धरती का अपना वर्ण ही दृष्टिगत नहीं होता था। भाँति-भाँति के लता-द्रुम, घास-पात, फल-फूलादि से लदा यह धराधाम अत्यन्त रमणीक था। समतल भूभागों में कहीं-कहीं नन्ही दूब ऐसी प्रसारित थी, मानो हरी मखमल बिछा दी गयी हो। ऐसे सुरम्य वातावरण में भी गंडक कुछ हताश था। उस वनवासी युवा को उस दिन कोई आखेट ही नहीं मिला। दिन भर की दौड़-धूप के निरर्थक हो जाने पर ऐसी हताशा स्वाभाविक भी थी। पल्लीवासी सभी आखेटक कोई न कोई आखेट लेकर ही लौटेंगे—यों गंडक भी खाली हाथ लौटने वाला नहीं, किन्तु उसकी आज की स्थिति बड़ी विचित्र थी। 'कोई-कोई दिन ही अशुभ होता है'—उसने सोचा और तर्जनी उंगली से भाल के स्वेद कण पोंछ लिये। उस सघन वन में वृक्ष-लताओं को पार करता हुआ वह कुछ कठिनाई से ही अपना मार्ग बना पा रहा था। कभी अपना धनुष किसी लता से छुड़ाता तो कभी अपना पैर ही सुलझाना पड़ता। उसे आशा अवश्य थी कि संध्या तक आहार-योग्य आखेट तो जुट ही जायगा। इस आश्वस्तता ने उसे निश्चिन्त भी बना रखा था और उद्यमशील भी।

चलते-चलते एक स्थल पर रुक कर गंडक टोह लेने लगा। उसकी सारी चेतना मानो कानों में केन्द्रित हो गयी थी। वह धीमी सी ध्वनि को भी ग्रहण कर लेना चाहता था। आखेट-खोजी वनवासी गंडक असफल हो जाना नहीं जानता था। उसे आस-पास से झाड़ियों की खरखराहट अनुभव हुई। सूखे पत्ते खड़के और वह ध्यान लगाकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने

का प्रयत्न करने लगा। तभी उसे कुछ ही दूरी से आता हुआ कोई नारी-स्वर सुनायी दिया। वाणी अस्पष्ट थी, तथापि गंडक इतना अनुमान अवश्य लगा पा रहा था कि पल्ली की किसी स्त्री पर कोई संकट है।

सहज सहायक गंडक के लिए इतना अनुमान भी पर्याप्त था। बिना किसी उपेक्षा अथवा प्रमाद के तुरन्त तत्पर हो जाना, उसका स्वभाव था। अपनी आखेट योजना को तिलांजलि देकर उस दिशा में अग्रसर हो गया, जिधर से ध्वनि आ रही थी। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, ध्वनि स्पष्टतर होती जा रही थी। यह प्रमाण था—इस बात का कि उसकी अपनाई गयी दिशा उपयुक्त थी। इस संकेत से उसका उत्साह और गति बढ़ने लगी। वह ऐसे स्थान पर पहुँच गया जहाँ से उसे कुछ दूरी पर का एक खुला स्थल स्पष्ट दिखायी देने लगा था। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से घिरे इस दूब के मैदान में जो दृश्य उसने देखा, उसके रोंगटे खड़े हो गये। कोई वनवासी कन्या अपने कंधों पर आखेट लादे भागती चली जा रही थी और एक क्रुद्ध बनैला भैंसा उसका पीछा कर रहा था। आत्मरक्षा के प्रयत्न में कन्या दिशा बदल-बदल कर दौड़ लगा रही थी और मस्तक झुकाये, सींग आगे को किये, भैंसा उसका अनुगमन कर रहा था। अन्ततः उस कन्या ने अपना भारी शिकार भूमि पर पटक दिया और भागने लगी। वह पसीने से लथ-पथ थी। हाँफती हुई उस असहाय नारी के हाथ-पाँव शिथिल हो गये थे।

गंडक ने दूर से ही देखा कि भूमि पर डाला गया आखेट एक बड़ा हरिण था। मार्ग में इस बाधा को पाकर भैंसा झुंझला गया। उसने आगे के पैर झुकाकर, पिछले पैर दृढ़ता के साथ भूमि पर टिकाकर पूर्ण शक्ति का प्रयोग किया और मृत हरिण को अपने सींगों पर उठाकर कुछ दूर तक उछाल फेंका। इसी समय वन-कन्या ने पीछे मुड़कर देखा और पाया कि भैंसा दुगुने वेग से आक्रमण कर रहा है। उसकी श्वास-गति सहसा बढ़ गयी, मुख विवर्ण हो गया और मरण के आतंक से उसका कंठावरोध हो गया। निर्जन वन में वह किसी की सहायता की तो आशा ही नहीं रखती थी, कोई चीख भी उसके कण्ठ से निकल नहीं पायी। अपने शिकार को असहाय पाकर अति उत्साहित भैंसा भेंटी मारने की तत्परता के साथ, मस्तक झुकाकर आगे बढ़ा ही था कि पीछे से आकर एक बाण उसके पुट्ठे पर लगा। उसकी गति थमी। भयंकर पीड़ा के मारे वह जोर से गर्जना कर उठा। प्रतिशोध से भरा, वह पलट कर भागने लगा। यह उसका

अपने नये, अज्ञात शत्रु पर आक्रमण था। इसी समय दूर वृक्ष से बाणों की ऐसी वर्षा हुई कि यह वन्य भैंसा बिंध गया। भूमि पर गिरकर तत्क्षण ही उसने प्राण त्याग दिये।

वनकन्या के जी में जी आया। वह कुछ स्वस्थ होकर उठ खड़ी हुई। संकट-निवारण से उसे एक उत्फुल्लता का अनुभव होने लगा। गंडक भी पेड़ से नीचे उतर आया। समीप आने पर वह पहचान सका कि यह कन्या तो उसी की पल्ली की पज्जा है। सोचने लगा कि अरे! यह बेचारी इस संकट में कैसे फँस गयी। वह पज्जा की ओर आगे बढ़ा। अपने प्राणरक्षक को खोज में पज्जा की दृष्टि इधर-उधर दौड़ी तो पाया कि अरे! यह तो अपना गंडक है! वह भी उसकी ओर बढ़ी। सोचती जा रही थी—बेचारा कितना भला है। आज यह नहीं होता तो''' इसने मुझे जीवनदान दिया है। मृत भैंसे के समीप ही दोनों आमने-सामने हो गये। कुछ क्षण तो दोनों एक-दूसरे को अपलक रूप से ताकते ही रहे और तब सहसा पज्जा की सलज्ज पलकें नीचे झुक गयीं। गंडक बेचारा अपना कोई व्यवहार निर्धारित नहीं कर पा रहा था। वस्तुस्थिति यह थी कि इनके मनों से भावनाओं का एक तीव्र अंधड़ गुजरता जा रहा था। इसके विपरीत बाह्य रूप से ये दोनों ही शांत, अचंचल बने हुए थे।

इस छोटी सी चुप्पी को भंग करते हुए पज्जा ने ही बात आरम्भ की। बोली—"गंडक! आज तू नहीं होता तो न जाने क्या हो जाता! कैसा भयानक तो था यह दुष्ट भैंसा। यह आज मुझे जीवित नहीं छोड़ता। मेरे पास तो धनुष भी नहीं रहा। भागने की हड़बड़ी में न जाने कहाँ छूट गया। और धनुष होता भी तो उसे काम में लेने की सुध किसको थी। आज तो तू ही मेरा धनुष बना, तू ही मेरा बाण। तेने आज मेरी रक्षा करली गंडक! मेरे प्राण तेरा उपकार मानते हैं।"

"अब छोड़ भी, इन बड़ी-बड़ी बातों को पज्जा!" अत्यन्त सरल भाव से गंडक ने कहा और हौले से एक धप्प पज्जा के कंधे पर जमाते हुए वह मुस्कुरा दिया। उत्तर में हल्की सी मुस्कान पज्जा के अधरों पर भी प्रकट हो गयी। उसके नयन आर्द्र हो उठे। यह उपकार मानते हृदय के हर्ष की अभिव्यक्ति थी। युवा गंडक मन्त्र-मुग्ध सा पज्जा को निहारता रहा। पज्जा की मुस्कान तो पल्ली भर में विख्यात थी। मुस्कान उसके रूप को निखार देने वाले अलंकार के समान थी। गंडक भी कुछ क्षण तो उस मुस्कान के

सम्मोहन में ग्रस्त हो अवाक् रह गया था। इस प्रभाव से मुक्त होते हुए उसने कहा—"पज्जा ! तुझे अपनी चिन्ता भी तो करनी चाहिए। इस प्रकार वन में आखेट के लिए अकेले आना ठीक नहीं....." कहते-कहते सहसा उसकी जीभ यों रुक गयी मानो कोई अकथ्य मुख से निकलने ही वाला था। उसे कुछ संकोच इस बात को लेकर होने लगा कि 'अकेले' शब्द का आशय कुछ अन्यथा न ले लिया जाय; किन्तु पज्जा ने कदाचित् अन्यथा ही ग्रहण किया और फिर भी वह कुछ उत्साहित लगी। गंडक को कुछ असाधारण अनुभूति होने लगी। दोनों के मन में भीतर ही भीतर कुछ विचित्र सी हलचल हुई। पज्जा ने इस रोमांचक प्रसंग को मन के भीतर भी अधिक चलते रहने देना अनुपयुक्त माना और इसका पटाक्षेप करते हुए बोली—"चल गंडक ...चल, अब हमें चलना चाहिए, पल्ली भी तो बहुत दूर है यहाँ से। साँझ भी होने को आयी है।" समर्थन की मुद्रा में गंडक बेचारा सिर हिलाकर रह गया। एक बार उसने पज्जा के आखेट हरिण को ध्यान से देखा और तब प्रश्न-वाचक दृष्टि के साथ पज्जा को निहारने लगा। आशय समझकर पज्जा ने कहा; "तो आज हम दोनों ने भारी आखेट किये हैं। अकेले-अकेले तो मैं इसे ले जा भी नहीं पाऊँगी। मैं तो स्वयं ही आज आखेट होते-होते बच गयी।"

"तू तो बच गयी पज्जा, पर मैं तो हो ही गया समझ।" गंडक की बात बीच ही में काटते हुए सहसा चिन्तित स्वर में पज्जा पूछ बैठी—"क्यों क्यों तेरे साथ क्या हुआ ?" और उत्सुकतावश वह गंडक का मुख निहारने लगी। गंडक बेचारा क्या उत्तर देता, वह तो फिर से संकोच अनुभव करने लगा था। इधर पज्जा को जैसे मन ही मन अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया। अपनी लज्जा को छिपाते हुए उसने कहा—"चल अब चल। बाकी बातें पल्ली में पहुँच कर होंगी। बापू भी तो चिन्ता करता होगा कितनी तो देरी हो गयी है।"

"चल, सचमुच अब चलना ही चाहिये"—कहते हुए गंडक ने पज्जा की सहायता से हरिण को अपने दोनों कंधों पर लादा, इधर-उधर हिला-डुलाकर उसे ठीक से जमाया और चल दिया। अपने हाथ झाड़ती हुई पज्जा पीछे हो ली। इस थोड़े से श्रम के कारण भी उसकी साँस फूल गयी थी। अपने इस दौर्बल्य को छिपाने के प्रयास में वह एक लम्बी साँस खींच-कर खखारने लगी। वास्तविकता पहचान कर गंडक ने अपनी गति को

तोव्रतर होने से रोका। अभिनय सा करती पज्जा ने टोका भी—"अब यों धीमे-धीमे कब तक चलेंगे, जरा जल्दी-जल्दी पैर उठाने होंगे न, गंडक !" और सब कुछ भाँप कर गंडक ने निश्चिन्तता दिखाते हुए कहा--"अरी ! पल्ली कौन सी दूर है। एक हाथ सूरज के ऊपर रहते-रहते हम पहुँच ही जायेंगे। तू तो ऐसी भागी जा रही है जैसे भैंसा अभी तेरे पीछे हो आ रहा हो।"

"अरे पीछे तो नहीं आ रहा, पर साथ-साथ तो चल रहा है....." कहते हुए पज्जा खिलखिला उठी। गंडक ने भी खुलकर उसका साथ दिया। चंचल हरिणी सी पज्जा कभी गंडक से आगे हो जाती, कभो उस बाजू निकल जाती। कभी वह पीछे रहकर इस बाजू आ जाती। उछलती-कूदती वह बढ़ी जा रही थी। सहसा कुछ ध्यान करते हुए वह रुक गयी और गंडक से कहने लगी—"आज तो तेने कमाल ही किया है रे गंडक ! इतना बड़ा आखेट किया, कैसा भीमकाय भैंसा था। बाप रे !!..." और उसकी बड़ी-बड़ी आँखें खुलकर गोलाकार हो गयीं। विनोद करते हुए गंडक ने कहा—"आखेट तो आज तेने बड़ा भारी किया है पज्जा, जो तुझे जीवनभर याद रहेगा।" और वह अनुराग भरी दृष्टि से पज्जा को निहारने लगा। कथन का अन्यार्थ भाँप कर पज्जा का सलज्ज मुख झुक गया और वह पैर के अंगूठे से दूब कुरेदने लगी। कुछ क्षण तो वह अपने आप में ही खो गयी। इस स्वप्नलोक से बाहर वह तब निकली जब गंडक अपना बोझा तनिक इधर-उधर कर आगे को बढ़ गया। पज्जा तेज-तेज कदमों से अनुसरण करने लगी।

अश्वेता सलोनी पज्जा अपने आकर्षक रूप के लिए पल्ली भर में विख्यात थी। मंझोला कद और गठीली देहयष्टि। उसका अंग-अंग साँचे में ढला सा था। शीशम की प्रतिमा सी लगती थी वह। वैसा ही घना श्याम वर्ण, वैसा ही स्थूल और सचिक्कण तन। उस श्यामा सुन्दरी की धनुषाकार भौंहें और घुँघराली अलकें, मोतियों की सी दंतावली और लम्बी-लम्बी पलकें बड़ी मनोहारी थीं। जूड़े में वह मोर-पंख खोंसा करती थी। मृग चर्म की कंचुकी और कटि से घुटनों तक का कसा हुआ अधोवसन, गजदन्त का सुन्दर हार, रक्तवर्णी चिरमू के भुजबन्द और गजरे पज्जा की विशेष पहचान बनाते थे। उसके चरणों में कौड़ियों के नूपुर खनखनाते रहते थे। उसकी श्याम बरौनियों के मध्य, भाल पर सिन्दूर की बड़ी सी बिन्दिया सूर्योदय का स्मरण कराती रहती थी।

आड़ी-तिरछी पगडंडियों पर कुलांचे भरती पज्जा अब भी गंडक के आगे-आगे चली जा रही थी। अब पल्ली भी समीप ही थी। पर्वत की गोद में बसी यह सुन्दर स्वच्छ बस्ती दूर से दिखायी देने लगी थी। वनवासी आखेटकों के कुछ परिवार हेल-मेल के साथ यहाँ रहते थे। परिश्रमी वनवासियों ने बांस-बल्ली, घास-पात से सुन्दर छप्पर और कुटीर निर्मित कर लिये थे। हर घर के बाहर छोटे-छोटे उद्यान थे। कुटीरों पर भी प्रफुल्ल वल्लरियाँ छायी थीं। पल्ली के मार्ग भी स्वच्छ थे। पल्ली वासियों ने अपने लिए कुए भी बना रखे थे। समीप ही सजला नदी प्रवाहित थी। वन्य पशुओं के आक्रमण से बचने के लिए सारी पल्ली को एक सुदृढ़ बाड़ से घेर रखा था। इनकी अपनी चौपाल भी थी। झौंपड़ियों के वृत्त के मध्य विशाल खुले स्थल पर पर्वों, विवाहों के अवसर पर नाच-गान होते रहते थे। पूर्णिमा की रात्रि तो पल्ली के युवा जन इस मैदान में नाचते-गाते ही व्यतीत कर देते थे। पल्ली का अपने ढंग का बड़ा सुन्दर सामाजिक जीवन था। दुराचार ने यहाँ अपनी आँख भी नहीं खोली थी। यहाँ एक सभी के लिए और सभी एक के लिए थे। यह निरीह और निष्पाप जाति सच्चे अर्थों में मनुष्यता का मानो एक आदर्श थी।

\+ \+ \+

सूर्यास्त हुआ ही था। पश्चिम दिशा का आकाश अभी संझा से खिला हुआ था। श्वेत बक-पंक्ति मुक्ता-हार सी शोभित थी। पल्ली के युवजन वन से अपना-अपना आखेट लेकर कभी के आ चुके थे। बोदा अपनी कुटिया के बाहर बैठा बिटिया के लिए चिन्तित हो रहा था। सांझ ढल गयी··· वह न आयी अभी तक! क्या हो गया? बूढ़ी आँखों पर जोर लगा कर दूर-दूर तक देख लेने का प्रयत्न करता, किन्तु प्रत्येक बार उसकी दृष्टि को निराश होकर लौट आना पड़ा। थोड़ी सी खड़क पर उसके कान खड़े हो जाया करते। उसे लगता कि यह पज्जा ही आ गयी है। फिर सोचने लगता—मैं भी कैसा बावरा हूँ? क्या मैं पज्जा बिटिया की आहट नहीं पहचानता? आ ही रही होगी। बहादुर है मेरी बेटी उस पर कोई संकट आये भी तो वह टिक नहीं सकता। लाखों में एक है—बेटी मेरी। वह यह सोच ही रहा था कि आंगन में धम्म की ध्वनि हुई। उसने देखा—कोई भारी शिकार गिराया गया है। उत्सुकता से पूछा—"क्या है रे! कौन है? क्या आखेट है रे? जान पड़े—बड़ा भारी है।" इसी समय पज्जा ने आगे बढ़कर कहा—"बापू, ये गंडक है—गंडक। आज मैंने एक भारी हरिण

मारा था, मैं अकेली तो उसे उठा कर ला भी नहीं सकती। गंडक उठाकर लाया है। बेचारा थक गया है।" तभी गंडक ने पास आकर जुहार की और बोला—"बाबा, आज पज्जा को मुझ पर बड़ी दया आ रही है। उसका थोड़ा सा काम जो आज मैंने कर दिया है।"

"थोड़ा सा काम—क्या कहता है गंडक ? बापू आज वन में जो ये गंडक नहीं मिल गया होता तो मैं क्या घर लौट कर आती ? भला हो इस गंडक का ..." पज्जा की बात बीच ही में काटते हुए उद्विग्न पिता ने पूछा—"क्या हो गया मेरी बिटिया को कोई चोट तो नहीं आयी ? कैसा जो है मेरी बिटिया का ? मुझे तो कब से जाने कैसा-कैसा लगता था !" "हाने को तो बड़ा भपंकर"हो गया था बापू ! भैंसा पीछे पड़ गया था"एक जंगली भैंसा। ये तो गंडक के बाणों ने सहाय की, नहीं तो, आज तुम्हारी लाड़ली, ये पज्जा तुमको दुखी कर जाती बापू !"

"गंडक के बाण गंडक ने ही सहायता की तेरी पगली ! उसका उपकार नहीं मानती क्या ? पर पहले यह तो बता कि मुझे पूरी बात बता ना, बेटी !" वृद्ध पिता ने थोड़ा खिसककर पज्जा के लिए अपने समीप ही स्थान बनाया और गंडक से बोला—"बेटा ! तुम भी तो बैठो, बैठो इस...." बोदा का वाक्य पूरा होने के पूर्व ही गंडक भी आंगन में पड़े वृक्ष के एक भारी लट्ठे पर टिक गया। पज्जा ने इस रोमांचक, साहसिक कथा को लगन के साथ वर्णित किया। वृद्ध बोदा की आँखें कभी अपलक रह जातीं तो कभी कपाल पर चढ़ जातीं।

कथा समापन पर बोदा उठा और उसने गंडक को गले लगा लिया। उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर बोदा ने अपनी पलकों को स्पर्श किया। कुछ क्षणों तक तो उसका कंठ सवाक् हो ही नहीं सका। उसकी आँखें ही जीभ का काम कर रही थीं। भावावेग के कुछ थमने पर ही वह कृतज्ञ हृदय को खोलकर रख सका। बोला—"बेटे, तेने हम पर जो उपकार किया है, उसका कोई जोड़ नहीं है। मैं मरूँ और मेरी खाल के जूते बनाकर भी तुझे पहना दिये जायें—तब भी मैं उऋण नहीं हो सकूंगा। बेटे, तू हमारे लिए जीवन-दाता हो गया।" वृद्ध कण्ठ पुनः भावावेश से रुँध गया और रुदन की सीमा स्पर्श करने लगा। बाबा की इस स्थिति ने युवा गंडक का हृदय विचलित कर दिया। बाबा ने जब उसे पुनः छाती से लगा लिया और हौले-हौले पीठ पर थपकी देते हुए उसका

साधुवाद किया तो गंडक का मन भी भर आया। उसने कहा—"बाबा, मुझे ऐसा करना ही चाहिए था न! जो मैंने ऐसा न किया होता तो एक नयी बात होती। मैं पज्जा को संकट में देखकर भला बैठा कैसे रह जाता! मैंने तो अपना काम किया है बाबा, उपकार नहीं।"

सहज होते हुए बोदा अपने स्थान पर आकर बैठा। इस भाव दृश्य को मगन होकर पज्जा देखती रही और हर्षित होती रही। इस सारे प्रसंग में उसकी मूक भूमिका ने भी बड़ी महत्ता ग्रहण करली थी। वाणी जब मूक हो जाती है तब दृष्टिविक्षेप शब्दहीन अभिव्यक्ति कर देते हैं। गण्डक और पज्जा के मध्य हुए दृष्टि-विनिमय ने भावों का जो आदान-प्रदान कर दिया था, बेचारी जीभ के लिए वह कहाँ सम्भव था। बोदा की बूढ़ी आँखों से इन दोनों के मनोगत भाव भी छिपे नहीं रह सके। इस आभास ने उसे शक्ति प्रदान की और उसकी इच्छा और अधिक बलवती हो गयी। उसने बड़े स्नेहपूर्वक गण्डक को अपने पास बुलाया और उससे कहा—"बेटा गंडक, मैं तुझसे बड़ा प्रसन्न हूँ। मैं चाहता हूँ कि तू और पज्जा—दोनों अब जीवन-साथी बन जाओ और सुख से रहो।" ऐसा कहकर वह बारी-बारी से दोनों के मुँह ताकने लगा। सहसा वह पूछ बैठा—"बोलो, तुम दोनों राजी हो ना? बोल बेटे गण्डक, पहले तू बता।" गण्डक की तो जैसे बाँछें ही खिल गयीं। वह मारे उत्साह के कुछ कह नहीं सका, क्षीण सा मुस्कुराकर उसने इस आशय से हाथ मटका दिये कि बाबा, जैसी तुम्हारी मर्जी! मुड़कर तब बोदा अपनी बिटिया की ओर उन्मुख हुआ और पूछा—"और तू क्या चाहती है पज्जो, हाँ? तेरी क्या....." पज्जा अतिशय लज्जावश कुछ कह नहीं पा रही थी। उसने मुख दूसरी ओर घुमा लिया और होठ का कोना ऊपरी दाँतों की पंक्ति से हल्के से दबा लिया। इस मूक सहमति से उत्साहित होकर बोदा ने कहा—"अच्छा....अच्छा!! हम अब समझ गये सारी बात। तुम दोनों राजी हो। मैं बड़ा खुश हूँ। मेरी आशीष है—सुखी रहो!!" कहते हुए बोदा ने दोनों के हाथ मिलवा दिये। दोनों प्रणय-सूत्र में बँध गये। दोनों का पारस्परिक आकर्षण सफल हुआ। बोदा ने कुटिया में से लाकर शंख फूंका, जोर की ध्वनि पल्ली भर में गूंज उठी। देखते-ही-देखते बोदा के घर अच्छी खासी भीड़ एकत्र हो गयी। शंख-ध्वनि ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अवश्य ही पज्जा के परिणय का प्रसंग है। उत्सुकता मात्र इस बात की थी कि पल्ली के किस युवा का भाग्य जागा है। पज्जा और

गण्डक आंगन के मध्य एक ऊँचे स्थल पर बैठे थे। आगन्तुकों को पहुँचते ही यह युगल दीख पड़ जाता था और उनके नयन निहाल हो उठते थे। वर-वधू ने पुष्पहार पहन रखे थे। सब कुछ अत्यन्त सादा, साधारण था। सखियाँ पज्जा के भाग्य को सराह रही थीं कि उसे गंडक जैसा गुणी युवक मिला। युवकजन गण्डक की उपलब्धि से अत्यन्त प्रसन्न थे, उसे पत्नी की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का जीवन-साथ मिला। अभिभावकगण बोदा को बधाइयाँ देते, मन-ही-मन सोचते हमारे ऐसे भाग्य कब होंगे ! ऐसी जोड़ी जमे तो हम भी भार-मुक्त हो जायँ। बोदा की प्रसन्नता का कोई ओर-छोर ही नहीं था। ऐसे मे उसे पज्जा की 'आई' का अभाव खलने लगा वह होती तो आज कैसा अच्छा रहता ! कब से तो मैं ही पज्जा का बाप हूँ, मैं ही उसकी माता के स्थान पर भी हूँ। चलूँ अब ब्याह का शेष काम भी निपटाना है—यह सोचते हुए उसने अपनी आर्द्र आँखें पोंछ लीं और घुटने पर हाथ लगाकर धीरे से उठ खड़ा हुआ। मुखिया ने फूलों का एक-एक गुच्छा दोनों को थमाया और चलने का संकेत किया। आगे-आगे वर-वधू; पीछे मुखिया जी और बोदा; उनके पीछे अन्यजन चले। यह उत्साहित शोभायात्रा शीघ्र ही पल्लीभर का चक्कर लगाकर चौपाल पहुंची। चौपाल में अच्छा-खासा मेला लग गया। सबके बीच वर-वधू खड़े मुस्कुरा रहे थे। नगाड़े जोर-जोर से बजते रहे। कान पड़ा शब्द भी सुनाई नहीं देता था।

मुखिया जी ने हाथी-दाँत की एक माला गण्डक को थमा दी और तभी पज्जा की लज्जावनत पलकें अधमुंदी सी हो गयीं। स्वतः ही उसकी गर्दन भी झुक गयी। बड़ी ही कोमलता के साथ तब गण्डक ने गजदंतहार पज्जा को पहना दिया। मुखिया जी ने तब एक छोटी सी कृपाण पज्जा को थमा दी। पज्जा ने गण्डक के कमरबन्द में वह कृपाण खोंस दी। तदनन्तर वर और वधू दोनों ने एक दूसरे के दोनों हाथ पकड़कर ऊपर उठा लिये—एक छोटा सा सुन्दर द्वार बन गया जिसमें से होकर मुखिया जी कुछ झुक कर इस ओर आ गये और अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर विवाह सम्पन्न हो जाने की सूचना दी। उपस्थितजनों ने अपने-अपने स्थानों से ही वर-वधू पर पुष्प उछाल दिये। यह नव दम्पति के प्रति उनकी आशीष थी—यह इस विवाह का लोकानुमोदन था, सामाजिक स्वीकृति थी। अब गण्डक और पज्जा विधिवत पति-पत्नी हो गये थे। अंधेरे को धकेलकर दूर करने के प्रयत्न में मशालें कुछ-कुछ ही सफल हो रही थी; किन्तु बाहर धवल चाँदनी बिखरी हुई थी। चौपाल से बाहर आते जन हर्षध्वनि कर रहे थे। तभी

पल्ली मध्य का वह विस्तृत प्रांगण सभी को अपनी ओर आमंत्रित करने लगा। तुरही का तीक्ष्ण स्वर सब ओर गूंज उठा। ढोल, नगाड़े, अलगोजे, भेरी, खड़ताल, थाली अनेक वाद्य सक्रिय हो गये। वर-वधू ने प्रांगण में पहुँच कर पहला ठुमका लिया और फिर तो सैकड़ों पैर थिरक उठे। चाँदनी रात में यह नाच-गान चलता रहा, खाना-पीना चलता रहा। वनवासी इस आखेटक जाति में विवाह विधि ऐसी ही सरल और ऐसी ही उल्लासपूर्ण हुआ करती है। रात्रि भर यह उत्सव, यह नृत्योल्लास चलता रहा। यही तो एक की प्रसन्नता का सभी की प्रसन्नता हो जाना था।

\+ \+ \+

यह वृत्तान्त सुनाकर क्षणेक के लिए तरुणी साध्वी मौन अवश्य हो गयीं, किन्तु उनके हाव-भाव से यह भी प्रकट होता था कि अभी कथा समाप्त नहीं हुई है, उन्हें इसे अभी और आगे बढ़ाना है। उत्सुक जिज्ञासु श्रेष्ठिनी सोमावती की टकटकी पूरे वृत्तान्त तक साध्वीजी के मुखमण्डल पर लगी रही थी। वह कुछ सन्दर्भ नहीं जोड़ पा रही थी—इस कथा का, अपने उस प्रश्न से जो उसने साध्वीजी से पूछा था। वह समझ नहीं पा रही थी कि यह कथा ... अपूर्ण सी कथा, अन्ततः सुना क्यों दी गयी। मैंने तो कुछ और ही जानना चाहा था। सम्भव है साध्वीजी इस घटना के माध्यम से कुछ अन्य बात प्रकट करना चाहती हों।

सोमावती श्रेष्ठिनी और साध्वीजी आदि के इस प्रसंग का काल अत्यन्त प्राचीन, दूर अतीत का था। मगध की राजधानी राजगृह में उन दिनों धर्म-प्रचार और प्रेरणा के उद्देश्य से तत्कालीन परम यशस्विनी प्रवर्तिनी सुव्रता जी विराजमान थीं। उनकी संयत और शीलवती कुछ शिष्याएँ भी उनके संघ में सम्मिलित थीं। प्रवर्तिनी सुव्रता जी नियम-पालन में स्वयं भी बड़ी अविचल थीं और संघ द्वारा अनुशासन-पालन पर भी उनकी सतर्क दृष्टि अजस्र रूप से बनी रहती थी। प्रवर्तिनीजी का तपःपूत व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। एक परम दिव्य आभा उनके मुखमण्डल पर व्याप्त रहा करती थी। कृषकाय, किन्तु सदा सक्रिय, सदा स्फूर्त प्रवर्तिनी सुव्रताजी एक अनुपम, अनुकरणीय धर्माचरण-आदर्श मानी जाती रही थीं। राजगृह की परम्परा ही धर्मानुराग की रही थी। जनमानस धर्म-तत्त्व से सम्पन्न, आचरण धर्मक्रियाओं से युक्त और भावना धर्माचार्यों-सन्तों के प्रति श्रद्धा और

सत्कार की रहा करती थी। समय-समय पर इस नगर को तत्कालीन प्रतिष्ठित आचार्यों का सत्संग सुलभ रहा करता था। यह महाराज श्रेणिक के पुत्र महाराज कोणिक का शासनकाल था। धर्माचरण की दृष्टि से यह स्वर्ण युग था।

राजगृह उस युग का एक सम्पन्न और अति सुन्दर नगर था। वैभव तो इस नगर के चरणों में लोटता था। प्रजाजन स्वस्थ एवं प्रसन्न थे, संतोष उनका मूल धन था। रोग-शोक कहीं दिखायी नहीं देता था। राजा-प्रजा का सम्बन्ध तो मानो पिता-पुत्र के सम्बन्ध जैसा था। महाराज कोणिक अपनी प्रजावत्सलता के कारण जन-जन के हृदय में निबास करते थे। महाराज स्वयं भी जैन धर्मानुयायी थे और अपने राज्य में इस धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भी वे यथेष्ट प्रयत्नशील रहा करते थे। 'यथाराजा—तथाप्रजा'—इस राज्य में साधु-सन्तों के समादर की, उनके सत्संग से जीवन-सुधार की प्रवृत्ति बड़ी सुदृढ़ थी। उन दिनों आर्या सुव्रता जी इस नगर की आध्यात्मिक अतिथि थीं, अपनी शिष्याओं के संग।

राजगृह व्यवसाय-बनिज का भी बड़ा भारी केन्द्र था। अनेकानेक धनाढ्य जन यहाँ निवास करते थे। उन दिनों धनपाल राजगृह का नगर श्रेष्ठी था। श्रेष्ठिनी सोमावती नगर सेठ की ही धर्मपत्नी थी। अपार-अपार सम्पदा के स्वामी श्रेष्ठी धनपाल धर्माचारी थे। धर्माचरण की लता में ही सुख-बैभव के फल-फूल आते हैं। अनीति और अविचार का विष इस लता को ही सुखा देता है। इस मर्म का ज्ञाता सेठ धनपाल सच्चे मन से धर्मानुरागी था। उसका सारा ध्यान ही धर्मपालन पर रहता था। साधु सन्तों का स्वागत-सत्कार, दीनों की सहायता, धर्मदेशनानुसार जीवन को ढालना—ये ही उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं। यही स्वरूप उसकी गृहिणी सोमावती के धर्मानुराग का था। वह एक प्रातः अपने गवाक्ष में खड़ी भवन-उद्यान की शोभा निहार रही थी कि सहसा उसे धवल वस्त्रधारिणी दो साध्वियाँ उद्यान मार्ग पर बढ़ती दिखायी दीं। सोमावती आज अपने लिए बड़ा सौभाग्यशाली दिन मानने लगी अब उसे सेवा का यह पुनीत अवसर मिला। वह उत्साह और उल्लास के साथ ऊपर से नीचे उतरने लगी। नीचे उतर कर ही सेवा-सत्कार सम्भव होता है न! ऊँचाई तो दर्प की अनुभूति देती है।

आर्या सुव्रता जी के साथ तरुणी साध्वी जो ही इस द्वार पर आयी

थीं। छठ उपवास का पारणा था और दोनों साध्वियाँ भिक्षाटन पर निकली थीं। द्वार तक पहुँचते-पहुँचते गृहस्वामिनी सोमावती अपनी दासियों के साथ आती हुई सामने दिखायी दी। मंथर गति से बढ़ती साध्वियों की गति और धीमी होती गयी। समीप आकर सोमावती ने श्रद्धा सहित नमन वन्दन किया, अगवानी कर उन्हें भवन के भीतर ले गयी। शान्त-गम्भीर साध्वीद्वय ने सुखी सोमावती का वैभवशाली सदन देखा, किन्तु कोई प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं जागी। साध्वी-सेवा का पुनीत अवसर पाकर सोमावती न केवल प्रसन्न थी, उसने कृतज्ञ स्वरों में इसे व्यक्त भी किया। अपने इस सौभाग्य पर उसे गर्व की सीमा तक गौरव अनुभव होने लगा था। एक विशाल, सजीले कक्ष में साध्वीजन खड़ी प्रतीक्षा करने लगीं। सोमावती भीतर जाकर स्वयं ही आहार ले आयी। तरुणी साध्वी के रूप-सौन्दर्य, उनकी आयु, उनके मुखमण्डल की दीप्ति और काया की कमनीयता से श्रेष्ठिनी के मन पर एक विशिष्ट प्रभाव अंकित हो गया था। उसके उद्विग्न मन में नाना प्रकार के प्रश्न कुछ ही क्षणों में उत्पन्न होकर विकसित हो उठे। इस वय में इस रूपवती ने संसार का त्याग क्यों किया? यही मूल प्रश्न उसके मन में घुमड़ने लगा। कहीं "ऐसा या वैसा तो नहीं"....अनेक सम्भावनाएँ उसके मन में उठतीं और प्रश्नाकार ग्रहण करती गयीं। अपने ही प्रश्नों के वन में उसका मन भटक गया।

मन की इस उधेड़बुन की प्रतिच्छवि सोमावती के मुखमण्डल पर फैल गयी थी। उसका भाल सहसा लकीरों से भर गया, उसके नयनों में अन्यमनस्कता तैरने लगी थी। न चाहते हुए भी उसकी चेतना का अधिकांश प्रस्तुत का त्याग कर अप्रस्तुत की ओर आकर्षित हो गया है—यह स्पष्टतः प्रतीत होने लग गया था। अपनी जिज्ञासा की तृप्ति का कोई स्रोत उसे दिखायी नहीं देता था। इधर साध्वीजन अधीर हो रही थीं। एक स्थल पर अधिक समय रुकना भी तो नियमविरुद्ध था। त्वरा के साथ श्रेष्ठिनी अग्रसर हुई और उसने आहार बहरा दिया। इसी समय उसने धर्मोपदेश हेतु याचना की। किन्तु धर्मचर्चा या उपदेश के लिए भी किसी गृह में अधिक समय रुकना श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है। इस तथ्य की ओर भी आर्या जी का ध्यान गया और वे सोमावती की याचना को भी सर्वथा ठुकरा देना अनुपयुक्त मान रही थीं। ऐसे में धर्म के मर्म की चर्चा कर लेना ठीक समझ कर उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया। अत्यन्त कोमल और स्निग्ध वाणी में उन्होंने श्रेष्ठिनी को आशीर्वाद सूचक हाथ

उठाकर बताया—"धर्म मानव-जीवन की अमूल्य सम्पदा है। दैहिक, दैविक और भौतिक त्रिविध ताप का शमन धर्म के लिए अत्यन्त सुगम और अनिवार्य धर्म है। धर्म ही मनुष्य को मनुष्य बना देता है, अन्यथा वह एक तुच्छ प्राणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।" आर्या की वाणी का प्रभाव अचूक था। सोमावती और उसकी दासियाँ करबद्ध, नतशिर, अविचल खड़ी उपदेशामृत का पान कर रही थीं—

"धर्म जीवन रूपी वृक्ष के लिए जड़ों के समान है। जीवन धर्म के आधार पर ही खड़ा रहता है और धर्म से ही पोषण भी प्राप्त करता है। धर्महीन जीवन शुष्क होकर ठूँठ हो जाता है। सुकर्म की प्रेरणा धर्म ही देता है। यही जीवन का सम्बल है, यही जीवन की सार्थकता है। धर्मशील व्यक्ति समस्त संकटों से सदा मुक्त रहता है और अन्य प्राणियों के लिए भी सुख का कारण बनता है।"

सोमावती के प्राण स्फूर्त हो उठे। उसे अपनी आत्मा जागृत होती सी प्रतीत होने लगी। कोई भीतर से उसे झकझोर रहा था। धर्म का स्वरूप पहली बार उसे समझ आने लगा था। मंत्रमुग्ध मुद्रा में वह श्रद्धेया आर्या की मुखापेक्षी बनी रही। उसके नेत्र अर्द्धनिमीलित, मुख श्रद्धाभिभूत और अधर निर्वाक् थे। आर्या जी ने अपना कथन अग्रसर करते हुए कहा—

"यह धर्म है क्या ? मोटे रूप में अहिंसा धर्म है, तप धर्म है, संयम धर्म है। यदि कोई गृहस्थ इनका भी निर्वाह कर ले तो उसके धर्माचरण को उल्लेखनीय स्थान प्राप्त हो जाता है। धर्म का अर्थ ही उन नियमों से है जिन्हें धारण किया जाता है। सद्गुणों, शीलों, हितकारी व्रतों, नियमों को धारण करना, उनके अनुकूल आचरण करना, जीवन को तदनुरूप बना लेना धर्माचरण है। जो धर्म के मार्ग का अविचल पथिक होता है, वह जागतिक क्लेश से सदा मुक्त रहता है। उसकी दुःखमय संसार के मध्य रहते हुए भी निर्लिप्त रहती है—कमल की भाँति, जो जल के मध्य रहकर भी जल से अप्रभावित रहता है। धर्म का नाता, सच्चा नाता है, इसे कभी न तोड़ो।"

प्रेरक शब्दों में हृदय परिवर्तन का अपार सामर्थ्य होता है। सोमावती पर तो धर्म-वचनों का गहन आन्तरिक प्रभाव हुआ। उसने कतिपय नियम अंगीकार किये। आर्या सुव्रता जी ने कोमलता के साथ नियमों की विवशता प्रकट की कि मर्यादानुसार अब उन्हें यह स्थल त्याग कर अग्रसर

हो जाना चाहिए। श्रेष्ठिनी सोमावती को उन्होंने इस बात के लिए भी प्रेरित किया कि वह और अधिक विस्तार से ज्ञान लाभ करना चाहे तो उपाश्रय में आ जाय। वह अपने प्रश्न भी वहाँ प्रस्तुत कर सकेगी और उसकी जिज्ञासाओं को भली-भाँति तुष्ट किया जा सकेगा। साध्वीद्वय अत्यन्त गरिमापूर्ण ढंग से विदा लेकर चली गयीं।

कालान्तर में सोमावती श्रेष्ठिनी उपाश्रय भी गयी। उसकी कुछ अन्तरंग सखियाँ और दासियाँ भी साथ थीं। सोमावती ने तरुणी साध्वी की सेवा में पहुँचना ही उपयुक्त समझा। संयोग से साध्वी एकाकी, एकांत स्थल में थीं। सोमावती ने नमन-वन्दन किया। हृदयस्थ समस्त श्रद्धा-भाव उसके मुख-मण्डल पर घनीभूत होकर छा गया था। संकेत पाकर दूर संकुचित होकर करबद्ध बैठ गयी। साध्वी जी ने मन्द हासयुक्त कोमल स्वर में सोमावती को उत्साहित किया। वे बोलीं—"तुम्हारी धर्म और धर्मानुयायियों के प्रति गहरी प्रीति है। यह भी एक सौभाग्य है, जो सभी को प्राप्त नहीं होता। उस दिन भी मैंने अनुभव किया था कि तुम कुछ विशेष जानना चाहती हो, किन्तु किसी संकोच ने तुम्हारी जीभ को जैसे जकड़ लिया था। क्या बात है? क्या जानना चाहती हो?"

सोमावती कुछ कहती, इसके पूर्व ही उसके जुड़े हुए हाथ कुछ आगे बढ़ गये। अत्यन्त आदरयुक्त वाणी में उसने कहा—"संकोच तो मुझे आज भी हो रहा है। और सच पूछें तो उस दिन की अपेक्षा आज तो कुछ अधिक ही हो रहा है। पूछने का साहस भी नहीं होता और जाने बिना मन को शान्ति भी नहीं मिल सकती।"

"कहो कहो""तुम मन की बात को बाहर ले ही आओ। वैसा ही करो जिससे तुम्हारे मन को सुख-शान्ति मिले। अब संकोच को छोड़ो।" साध्वीजी ने उसके मन को बल दिया और यह बल पाकर उसके मन में साहस उदित होने लगा। उसने फिर पूछा—"साधु-साध्वियों के मूल परिचय के विषय में जानने की इच्छा अनुचित तो नहीं मानी जाती ना! सन्त-जन तो जो हैं—उनका वही रूप उनके व्यक्तित्व का सर्वस्व होता है, अतीत से कोई सरोकार नहीं—ऐसा कहा जाता है। उसके कुलशील का नहीं, अब तो उसके ज्ञान-वैभव का ही मोल रह जाता है, पर मेरा मन तो ....।" सोमावती की बात को प्रबल बनाते हुए साध्वीजी ने कहा—'तुम मेरे विषय में ही कुछ जानना चाहती हो न! पूछो, क्या पूछना है? मेरी अनुमति है,

यदि इससे तुम्हें सन्तोष होता हो तो अवश्य पूछो। क्या जानना चाहती हो तुम मेरे विषय में ?"

अमित हर्ष का भाव सोमावती के मुख पर खिल गया, उसके नयन चमक उठे। गद्‌गद् कण्ठ से बोली—"आर्य ! आपने तो मेरी समस्या को ही निर्मूल कर दिया, आप बड़ी भली हैं। अब मैं पूछ लूंगी ··· " मस्तक डोलाते हुए उसने पुनरुक्ति की और कहा –"अब मैं सब कुछ पूछ लूंगी।" एक क्षण मौन रहकर उसने कहा—"पूज्या ! अभी आप अल्पायु हैं, जीवन के सुखों का स्वाद भी अभी आपने चखा नहीं। क्षमा करें, किन्तु मैं यह कहे बिना भी नहीं रह सकती कि आप रूप-वैभव से अत्यन्त समृद्ध हैं, ऐसा आकर्षक रूप भी तो किसी-किसी को ही मिलता है। प्रतिभा, गुणशीलता में भी आप सर्वाग्र हैं। कुलशील भी आपका ऊँचा अति ऊँचा लगता है। फिर आपने वैराग्य और संयम के मार्ग का अनुसरण इस अवस्था में क्यों कर किया ? मुझे कृपा कर बताइये आप विरक्त क्यों हो गयीं ? सुख-वैभव को तिलांजलि देकर आपने असमय ही इस तप-त्याग को क्यों गले लगा लिया ?" कहते-कहते सोमावती का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसके वचनों में आर्द्रता आ गयी, नयनों में जिज्ञासा कम और वेदना अधिक झलकने लगी।

कथन की समाप्ति पर भी कुछ क्षणों तक सोमावती अचंचल, गम्भीर बनी रही। आज पहली बार सहसा किसी ने उनके अन्तस्थल को जैसे कोमल स्पर्श दे दिया था। उद्विग्नता और विचलन साधु-स्वभाव में होता ही नहीं। धीर-गम्भीर स्वर में उन्होंने कुछ संभलते हुए कहा—"सोमावती ! मैं वचनबद्ध हूँ। तुम मेरे वर्तमान के मूल में छिपे अतीत को जानना चाहती हो न ! मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगी, लेकिन किसी का भी आज का रूप उसके अतीत के रूप से ही नियन्त्रित रहता है। उसका यह अतीत दो प्रकार का होता है। एक तो वैसा अतीत होता है, जिसे तुम जानना चाहती हो। यह निकट अतीत है। वास्तव में एक—दूर अतीत भी होता है, वही वर्तमान को भी आकार देता है और उसी के आधार पर निकट अतीत रूपायित होता है। आज के जीवन को भली-भाँति जानने-समझने के लिए इन दोनों अतीतों का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। मैं तुम्हें पूरी बात बताकर ही सन्तुष्ट करूँगी"—कहते-कहते साध्वी जी गम्भीर हो गयीं। आंगन को ओर निहारते हुए उन्होंने कहा—"सुनो···मैं तुम्हें पहले एक कथा सुनाती हूँ।"

और उन्होंने पज्जा-गंडक के प्रणय-परिणय की कथा वर्णित कर दी थी। उस कथा की समाप्ति पर सोमावती का अचम्भित रह जाना भी स्वाभाविक ही था। तरुणी साध्वीजी ने तब प्रबोधन भरे स्वर में उसे बताया कि तुम यही सोच रही होगी कि इस कहानी से तुम्हारे प्रश्न का क्या सम्बन्ध ? पर सुनो, इस कहानी से मेरे जीवन का सम्बन्ध है, जिसे तुम जानना चाहती हो।

यह सुनकर सोमावती ने एक सन्तोष की साँस ली। मनोवांछित परिस्थितियाँ पाकर मनुष्य का सहज सन्तुष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। साध्वीजी ने कहा यह दूर अतीत की कथा का एक भाग था। ध्यान से सुनो, अब इसका दूसरा भाग सुनाती हूँ।

२

नारी की महत्ता कोमलता से और नर की पौरुष से होती है, किन्तु प्रेम दोनों की महानता का समान धर्म है। न्यूनाधिक रूप में, क्या नर और क्या नारी—सभी के हृदय में प्रेम का तत्त्व निवास करता है। पज्जा और गंडक ··· गंडक और पज्जा दोनों एक-दूसरे से अतिशय प्रेम करते हैं। यह प्रेमिक युगल पल्ली भर में अपनी प्रेम-भावना के लिए चर्चा का विषय बना रहता था। दोनों सच्चे अर्थों में एक-दूसरे के लिए थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो इनका जन्म ही परस्पर प्रेम-निर्वाह के लिए हुआ था। पज्जा और गंडक सदा साथ रहते थे। इनकी कामना थी कि कभी भी वे विलग न हों। विवाहोपरान्त किसी ने इनमें से किसी को एकाकी नहीं देखा।

उस दिन भी पज्जा और गंडक संग-संग वन को गये थे। आखेट की तलाश में भी वे वन में पृथक-पृथक दिशाओं में चले जायँ, ऐसा प्रायः कम ही होता था। संध्या समय समीप आ जाने पर भी संयोगवशात् उस दिन उन्हें कोई विशेष आखेट नहीं मिल पाया था। दो खरहों ने अपने प्राण देकर भी इनकी लाज रखली थी, अन्यथा रिक्तहस्त ही पल्ली को लौटना पड़ता और उन्हें फिर अन्यजनों के उपहास का पात्र बनना पड़ता। सखियाँ कहतीं —"पज्जा को कौन आखेट के लिए वन जाना होता है! यह तो प्रियतम के साथ रंगरेलियाँ मनाने को जाती है वन में। न स्वयं कुछ जुटाती है, न गंडक को कुछ करने देती है। गंडक के मित्र भी उसे विनोद का विषय ही बनाते। कहकहे गूँजते, अट्टहास होते ··· ।

अभी तो दोनों मृतक खरहों की पूँछें आपस में बाँधकर पज्जा ने अपने कंधे पर यों लटका रखे थे कि एक आगे और दूसरा पीठ पर था। पज्जा अपने प्रियतम गंडक के साथ वन की इस छोटी सी झील के किनारे बैठी थी। पानी में मछली के लिए काँटा डालकर दोनों ही प्रीति-संलाप में खोये

हुए थे। छोटी-छोटी कंकरियाँ उठाकर पज्जा धीमे-धीमे पानी में फेंकती जा रही थी। 'डुप्प्' की ध्वनि के साथ कंकरी पानी में डूब जाती और पानी की गोल-गोल लहरियाँ उठतीं जो बड़ी से बड़ी होकर अन्ततः विलीन होती जा रही थीं। इस क्रीड़ा में इस प्रेमी-युग्म को बहुत ही आनन्द की अनुभूति हो रही थी। दोनों मौन, अपने-अपने विचारों में खोये हुए थे। आत्मलीन, भावुक पज्जा और अधिक सुन्दर दिखायी देने लगती थी। उसके विशाल नेत्र अर्द्ध निमीलित से होकर और अधिक आकर्षक हो उठते थे। एक ओर को झुकी उसकी ग्रीवा अनुपम लगती थी। वह किसी निष्णात मूर्तिकार की कलाकृति सी दृष्टिगत होती थी। गंडक इसी सौन्दर्य राशि के रसोपभोग में निमग्न, अवाक् बैठा था। उसे लगता था कि वह अत्यन्त भाग्यशाली है कि उसे जीवन-साथी के रूप में पज्जा का संसर्ग लाभ हुआ। पज्जा तन ही नहीं, मन से भी अतिशय सुन्दर थी। यथार्थ तो यह है कि गंडक पज्जा के इसी सौन्दर्य पर मुग्ध था। वह अत्यन्त कोमल भावनाओं की स्वामिनी थी। अनुराग भरा उसका मन तो अरुणोदय काल की पूर्व दिशा सा था। उसके मन में सहानुभूति और करुणा की भी कभी न रुकने वाली लहरें उठा करती थीं। संगी-साथियों, पल्लीवासियों के प्रति उसके मन में अपार सहानुभूति रहती थी। वह अपने कोमल और सदाशयतापूर्ण व्यवहार के लिए सर्व चर्चित रहा करती थी। गंडक पज्जा के ऐसे ही आन्तरिक गुणों का भक्त हो गया था। मनुष्य के मन का शील ही उसके तन का सौन्दर्य बनकर व्यक्त हो जाता है। जो भीतर से सुन्दर नहीं, वह बाहर से भी सुन्दर नहीं लग पाता है। पज्जा की अमित रूपशीलता का भी कदाचित् यही रहस्य था।

काँटे की डोर में कुछ तनाव आया, किन्तु पज्जा का ध्यान तो अब भी समीप के युवा तरु पर था, जिससे अतिशय प्रीति के साथ एक तरुणी लता लिपटी हुई थी। इस प्रणय प्रसंग ने पज्जा के हृदय को मुग्ध कर दिया था। इस मुग्ध भाव के साथ उसने कनखियों से तरु-लता की ओर संकेत करते हुए गंडक से कहा—देख; प्रेमी अपनी प्रेमिका को यों अपना लेता है, उसे छिटकाता नहीं है। और गडक ने भी तब कहा कि प्रेमिका भी यों ही सारे संसार को त्याग कर अपने प्रेमी की हो जाती है। है न? कथनान्त द्वारा उसने अपनी उक्ति को कोमल बना देना अनिवार्य समझा, कि कहीं पज्जा गंडक की उक्ति को अपने लिए ताना न समझ बैठे। पज्जा तो गंडक को सर्वस्व मान ही चुकी थी, वह समर्पिता थी—इस तथ्य से गण्डक अन-

भिज्ञ भी नहीं था। कुछ पल दोनों मौन, अपने-अपने भावों में खोये रहे। फिर सहसा मौन भंग करते हुए गण्डक ने ही कहा "पज्जा""सुन पज्जा, हम एक दूसरे से प्रेम करते हैं न! सारी पल्ली हमारे सच्चे प्रेम की प्रशंसा करती है। सभी हमारे प्यार का उदाहरण देते हैं पज्जा हमारा प्यार""।"

"करते हैं प्रशंसा""खाक प्रशंसा करते हैं"—पज्जा ने झुंझलाते हुए कहा—"जलते हैं हमसे सब""बुराइयाँ करते हैं हमारी।" इतना कहकर आवेश के कारण भर आयी साँस की गति छिपाने का प्रयत्न करते हुए कुछ क्षण वह मौन रही। उसका वक्ष ऊपर-नीचे को होता रहा। फिर उसी ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—"पल्ली वाले हमें देखकर हँसते हैं। हमें सारस कहते हैं।"

"अब तू ही बता गंडक! क्या मैं सारस जैसी कुरूप दिखायी देती हूँ। लम्बी-पतली टांगों पर ठहरा गठरी सा शरीर, लम्बी सारी गर्दन क्या ऐसा कुछ।" प्रश्नात्मक मुद्रा में पज्जा के इस कथन को बीच में ही स्थगित करते हुए गण्डक ने हस्तक्षेप किया—"नहीं पज्जा, नहीं—तूने उनकी बात का गलत अर्थ लगा लिया है। पल्ली वाले हमारे मित्र हैं, वे हमारी निन्दा नहीं करना चाहते। सारस के समान बताकर वे तो हमारे अटूट प्रेम की चर्चा करते हैं।" एक क्षण गंडक रुका कि वह सोच ले—आगे की महत्वपूर्ण बात कैसे आरम्भ करे और तब कहने लगा—सुन पज्जा, ध्यान से सुन—तूने क्या सारस पक्षियों को देखा नहीं है? खेतों में, झीलों के किनारे आकाश में उड़ते हुए। तूने एक विशेष बात यह भी देखी होगी कि वे जोड़े में ही दिखायी देते हैं। सारस और सारसी को दूर-दूर, अलग-अलग नहीं देखा जाता। कितना तो अटूट प्यार होता है, उनका। कहने को आदमी जाति में भी प्यार होता तो है पर वैसा नहीं। दुर्भाग्य से स्त्री-पुरुष की जोड़ी खंडित हो जाय, कोई एक नहीं रहे—तो कुछ दिन रो-धोकर जो बच रहता है वह किसी अन्य को अपना जीवन-साथी चुन लेता है। पुराने साथी को भूलकर तब एक नया जीवन आरम्भ कर देता है। सारस ऐसा नहीं करते।" गंडक अपनी बात विस्तार से समझाने की सोच ही रहा था कि सहसा पज्जा को जैसे स्वयं ही सब कुछ आभासित हो गया। अति उत्साह में वह चहक उठी—अरे! यह बात है! इस कारण हमें सारस कहा जाता है? मैं जानती हूँ, सारस-सारसी जीवन भर एक-दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। यदि दुर्दिन ही उन्हें अलग करदे तो बात दूसरी है। एक के मरने पर शेष जीवन

दूसरा पक्षी अकेले ही व्यतीत करता है—मैं जानती हूँ उसका जीवन कितना निराश, कितना दुःखमय कितना एकाकी रह जाता है, किन्तु वह अन्य को अपना जीवन-साथी बनाता ही नहीं है। यह अनन्य प्रेम है—प्रेमी-प्रेमिका का। तो पल्लीवासी हमें सारस इसी कारण कहते हैं।" सहसा पज्जा मौन हो गयी।

"हाँ पज्जा, अब तूने सही समझा। हमारे पक्के प्यार को सराहा जाता है तो हमें सारस कहा जाता है। सारस के जोड़े की तरह ही हम भी सदा साथ-साथ जो रहते हैं। विवाह के उपरान्त हमें किसी ने अकेले-अकेले देखा भी नहीं। फिर क्यों न कहें हमें सारस—हाँ ??"—कहते-कहते गण्डक के मुखमंडल पर आत्म-गौरव की एक आभा बिछ गयी। उसका वक्ष कुछ और भी चौड़ा हो गया हो—उसे ऐसा लगा।

"पज्जा, तू तो कदाचित् जानती भी होगी और मानती भी होगी कि अज्ञान कहे जाने वाले पशु-पक्षियों में भी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें मिलती हैं। हम जैसे मनुष्यों को उनमें बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। प्रेम के तो अद्भुत आदर्श इनमें मिलते हैं"—गम्भीर वाणी में गण्डक अपना अनुभव व्यक्त कर ही रहा था कि उसकी बात को बीच ही में विराम देते हुए पज्जा फिर बोल पड़ी—"ऐसा भी नहीं है कि पशु-पक्षियों में सारे के सारे व्यवहार आदर्श ही हों। सारे प्राणी एक से तो होते नहीं। अब चिरैया को ही देखो। चिड़ा अनुकूल ऋतु आने पर चिड़िया का संगी हो जाता है। छका रहता है। चिरैया के साथ मिलकर घोंसला बनाता है। चिड़िया अण्डे देती है। छोटे-छोटे बच्चे जन्म लेते हैं। चिड़िया और चिड़ा मिलकर उनकी रक्षा करते हैं—उन्हें पालते-पोसते हैं। धीरे-धीरे बच्चे बड़े हो जाते हैं। फुदकते-फुदकते वे उड़ने के योग्य हो जाते हैं और चिड़ा-चिड़िया भी पृथक हो जाते हैं। उनके प्रेम की बस इतनी मियाद रहती है। अगले मौसम में चिड़िया किसी अन्य चिड़े के साथ होगी और चिड़ा किसी अन्य चिड़िया के संग जोड़ा मिला लेता है। ऐसा इनका अपना व्यवहार है।"

"पज्जा, सभी पक्षियों में भी एक सी तो बात होती नहीं। अब चकवा-चकवी को ही लो। बड़ा अनूठा और पक्का प्यार होता है इनके बीच। सारसों में तो यदि एक मर जाय तो दूसरा किसी को अपना जीवन साथी नहीं बनाता। आजीवन अकेला ही रह जाता है, किन्तु चकवा-चकवी की जोड़ी की बात और भी निराली है। एक के मर जाने पर दूसरा भी

जीवित नहीं रहता—वह भी प्राण त्याग देता है। चकवा-चकवी का जोड़ा ही बना रहता है या फिर दोनों ही समाप्त हो जाते हैं।"—गंडक से इतना सुनकर पज्जा फूली नहीं समायी। उसे अपने प्रेम को एक और आदर्श से सज्जित करने का उत्साह मिला। प्रकट में वह इतना ही कह पायी—"फिर लोग हमें सारस क्यों कहते हैं—चकवा-चकवी क्यों नहीं कहते ? हम तो सारसों से आगे बढ़े हुए हैं।" उत्तर में कुछ क्षण तो गण्डक मौन ही रह गया। एक बार तो सन्नाटा ही छा गया।

कुछ क्षणोपरान्त गण्डक ने ही पुनः मौन भंग किया। कहने लगा—"पज्जा, सुन पज्जा !! इन पशु-पक्षियों की जो व्यवहार पद्धति है हम किसी को अच्छी और किसी को बुरी भले ही कह लें, किन्तु सत्य यह है कि ये अपने-अपने आदर्श से चिपके हुए हैं। अपने चलन को वे कभी त्यागते नहीं हैं। चकवा-चकवी की भी बड़ी अनूठी प्रीति होती है। सारस जोड़े की भाँति यह जोड़ा भी सदा ही पूरा दिखायी देता है, किन्तु किसी परिस्थिति में यदि एक का मरण हो जाय तो दूसरा प्राणी भी फिर जीवित नहीं रहता। वह भी अपना प्राणान्त कर लेता है।....." गण्डक की इस उक्ति से पज्जा का अन्तर् मन गहराई के साथ अभिभूत हो उठा। वह आत्म-नियन्त्रणहीना सी सहसा बीच में बोल पड़ी "हाँ हाँ....मैंने भी कभी चकवा चकवी के विषय में यह सुना था। गण्डक, प्रेम की निष्ठा की यह परा-काष्ठा है। भला प्रणयीजन इस से अधिक प्रेमावेश के अधीन क्या रहेंगे ? हमें अपने प्रेम पर गर्व भले ही हो, किन्तु हमें इन से बहुत कुछ सीखना है।"—यह कहती हुई पज्जा भावविभोर हो गई और अपलक नेत्रों से धरती की ओर ताकने लगी। वह स्तब्ध रह गयी थी और उसकी श्वास गति भी मन्थर हो गयी थी। एक ढीठ लट बार-बार भाल पर लटक आती थी। पज्जा चिढ़कर, माथा झटकाकर उसे तुरन्त पीछे कर दिया करती थी, किन्तु अभी उसे आभास भी नहीं था कि वह हठीली लट इस समय उसके भाल को स्पर्श कर रही थी। सत्य तो यह था कि इस घुँघराली केश लट ने उसके सहज सौन्दर्य को और अधिक आकर्षक और सौम्य बना दिया था।

बड़ी देर तक पज्जा और गण्डक दोनों एक दूसरे के समीप मौन बैठे रहे। दोनों अपने-अपने मनोभावों में खोये रहे। दोनों मानों इस पार-स्परिक समीपता से भी अनाभिज्ञ थे। इन एकाकी क्षणों में वे न जाने कब

तक खोये रहते अगर दूर से आने वाली सिंह की गर्जना ने इन दोनों का ध्यान भंग नहीं कर दिया होता।

सिंह-गर्जना सुन कर दोनों में एक अद्‌भुत उत्साह जाग उठा था। गण्डक अपना धनुष-बाण सँभालते हुए उठ खड़ा हुआ। हाथ से स्पर्श कर आश्वस्त होते हुए कि उसकी छुरी भी यथास्थान है—उसने पज्जा से कहा—"प्रियतमा, मैं अभी तुम्हारी कोमल देह को सिंह चर्म से सज्जित करने की कल्पना कर ही रहा था कि सौभाग्य ने सिंह भेज भी दिया।"

गण्डक ने देखा कि पज्जा को अपने प्रेम पर गर्वानुभूति हो रही है। उसकी तनी हुई गर्दन और मोहक मुस्कान इस की साक्षी थी। पज्जा ने अपनी मधुर-वाणी में कहा—"वादा तो तूने एक और भी कर रखा था, चलो अभी यही ···" गण्डक को अपना वह वादा भी स्मरण था। उसने पज्जा की बात पूर्ण होने के पूर्व ही त्वरा के साथ कहा—"पज्जा! मुझे स्मरण है, मेरा वादा मैं भूला यहीं हूँ। तेरे कंठ-हार के लिए गजदन्त मुझे लाना ही है अभी तो सिंह चर्म ले जाऊँ। कब से तो यह कामना बनी हुई थी मेरे मन में।"

'चल यही सही। शेर के शिकार को चलते हैं। हाथी को फिर कभी देख लेंगे····" कहती हुई पज्जा उठने को हुई ही थी कि गंडक ने उसे बरजते हुए कहा" ना ना! पज्जा, तू यहीं आराम कर। मैं अकेला ही जाऊँगा इस समय। तू तो अभी बहुत थक गयी होगी न! मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। मैं जा रहा हूँ पज्जा, किन्तु तेरे साथ बना रहूँगा। तू यहीं आराम करती रहेगी, किन्तु मेरे साथ बनी रहेगी। चलता हूँ अभी लौट आता हूँ···" गंडक क्षिप्रता के साथ झपटता हुआ एक ओर को बढ़ गया। पज्जा वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर अधलेटी सी हो गयी और उसने प्रयत्न-पूर्वक अपने नेत्र भी मूँद लिए थे। पज्जा वन-कन्या सी सुन्दर लग रही थी।

वह सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओं में खो गयी। दिवास्वप्नों की रमणीयता और रंगीनी और अधिक मादक हुआ करती है। पज्जा का हृदय उसी रंग में रंजित हो गया। उसका मुख अधरों के मंद हास में व्यक्त हो रहा था। वह चौंकी तो तब, जब उसे प्रियतम गंडक की पदचाप सुनायी दी। उसने बहुत ही उत्साहित होकर नेत्र खोले। दृष्टि मृत सिंह को देख लेने को आतुर थी, किन्तु गंडक को रिक्त हस्त देखकर उसका सारा

उत्साह मन्द हो गया। प्रश्न-सूचक दृष्टि से वह गंडक की ओर ताकने लगी।

गंडक समीप आया और अपने दोनों हाथ झटकारते हुए उसने पज्जा से कहा—"आज तो कुछ समय ही ठीक नहीं है। कोई भी तो काम ठीक से नहीं बन पा रहा। चलो, अब पल्ली की ओर ही चलते हैं।"—यह कहते हुए उसने हाथ आगे बढ़ाया। उसका हाथ पकड़ कर पज्जा उठ बैठी और फिर स्वतः ही खड़ी होते हुए उसने पूछा—क्यों ? क्या हो गया ? सिंह मिला नहीं क्या ?"

प्रश्नों से कुछ झुंझलाता सा गंडक अधकचरे स्वर में बोला, "पज्जा ! सिंह क्यों नहीं मिलता, मिलना तो था ही उसे। वह मिला भी, किन्तु वह सिंहनी के साथ विचरण कर रहा था। समीप ही सिंह-शावक भी परस्पर छीन-झपट करते, उछल-कूद करते क्रीड़ा कर रहे थे। भला, ऐसी अवस्था में सिंह का आखेट करना किसके बस की बात हो सकती है।"

यह प्रेम-प्रसंग सुनकर पज्जा द्रवित और अभिभूत हो उठी और कहने लगी—"हाँ, तूने अच्छा ही किया गंडक कि सिंह पर बाण नहीं साधा। हमारे आखेट नियमों में भी तो इस प्रकार को मनाही रहा करती है न !"

"हाँ, पज्जा ! पशु-पक्षियों के आखेट के विषय में भी हमारे कुछ नियम हैं। गर्भवती मादा पशुओं को मारना मना है, दूध पिलाती माँ को भी नहीं मारा जाता। प्रेम करते जोड़े में से किसी का वध भी नहीं किया जाता, तो पशु समूह के मुखिया को भी नहीं मारा जाता। अनेक-अनेक हाथी एक साथ रहते हैं, उस समूह का यूथपति एक ही नर हाथी होता है। उसका भी वध करना वर्जित है। वर्जित न हो तो हाथियों का कुल ही समाप्त न हो जाय !"

गंडक की बात चुपचाप सुनती हुई पज्जा गंडक के पीछे हो ली, जो चल पड़ा था। दोनों पल्ली की ओर चले। सदा की भाँति आज भी गंडक अपनी मस्त, किन्तु गम्भीर चाल से चला जा रहा था और पज्जा चंचल हरिणी सी उछलती-कूदती चलती रही। कभी वह गंडक की इस बाजू को हो जाती, तो कभी उस बाजू को। उसे कभी यह भी अखर जाता था कि गंडक इतना तेज क्यों चलता है ! पज्जा को तो सांस फूल उठी थी, पर

इस तथ्य को छिपाये वह गंडक के कदम से कदम मिलाते हुए बढ़ी जा रही थी। दोनों पल्ली के समीप से समीपतर होते जा रहे थे। पश्चिम दिशा में सूर्यास्त की लालिमा छिटकने लगी थी।

सोमावती के भाल पर सजी बड़ी सी बिंदिया पर साध्वीजी की दृष्टि अपने अन्तिम वाक्य के साथ जा टिकी। दोनों में साम्य जो था! बिन्दिया और सूर्य—दोनों गोल, दोनों लाल। सोमावती तो मंत्रमुग्ध सी कथा-श्रवण में दत्तचित्त थी। हाँ, उसे अब भी यह ज्ञात नहीं हो पा रहा था कि इस कथा से मेरी जिज्ञासा का क्या सम्बन्ध? अन्ततः मेरी इच्छा तो यही जानने की है न कि साध्वीजी के वैराग्य धारण की भूमिका क्या है? इस कथा को वह न तो निरर्थक स्वीकार कर पा रही और न ही सार्थक। अपनी सीमित बुद्धि पर वह झुँझला उठी। वह तो इस सारी उलझी पहेली के समाधान हेतु साध्वीजी की ओर टकटकी लगा कर ताकती रही। उसका मुख खुला का खुला रह गया। विस्मित सोमावती साध्वीजी के आगामी कथन की प्रतीक्षा करने लगी।

२

पिछले कुछ दिनों से पज्जा बड़ी उदास-निराश थी। जब वह चौथे दिन भी साँझ ढले आंगन से राह तकते-तकते निश्वास डालकर, गर्दन झुकाकर कुटिया के भीतर चली गयी तो पिता का हृदय चीत्कार कर उठा। वह बेचारा इस वृद्धावस्था में पुत्री के दुःख से व्याकुल हो उठा था। गंडक गजदन्त लेने को गया था। आठ दिन हो गये, किन्तु लौटकर नहीं आया। पिता और पुत्री दोनों को गंडक के शौर्य और साहस पर, उसकी शक्ति और हस्तलाघव पर अदम्य विश्वास था। यही विश्वास उन्हें गण्डक के कुशल-क्षेम के विषय में आश्वस्त किये हुए था। किन्तु ···अब वे दोनों भी शिथिल-आश थे। नाना प्रकार की अमंगल आशंकाएँ दोनों के मन में उठती थीं, पर किसी को भी साहस नहीं होता था कि उन्हें व्यक्त कर दे।

वृद्ध पिता बोदा अपनी प्रिय पुत्री के दुःख से टूट चुका था। उसका मन कहता था कि अवश्य ही कोई अशुभ, अघटनीय घटित हो गया है; अन्यथा गण्डक जैसा चुस्त नौजवान यों इतने समय लापता नहीं रह सकता। बोदा बेचारा यों चुप भी कैसे रह सकता था? चौपाल में एक शाम को उसने अपना दुखड़ा रोते हुए गुहार की कि "पल्ली के कोई नौजवान जंगल में जाकर गण्डक की खोज-खबर लें। क्या उसे धरती खा गयी, या आकाश निगल गया? ऐसा बाँका जवान जो दस-दस पर भारी पड़ता था—वन से लौटकर क्यों न आ पाया? क्या हो गया उसे? भला उसके संगी-साथी हो उसे खोज लाएँ, उस पर कोई संकट हो तो उसकी सहायता कर दें। क्या कोई मुझ बूढ़े और दीन पज्जा की सहायता करेगा ??"

पल्ली के बड़े-बूढ़े पहले से ही चिन्तित थे। बोदा की बात सुनकर वे और अधिक सक्रिय हो गये। एक वृद्ध सज्जन बोदा को ढाढ़स बँधाते हुए बोले—"घबरा नहीं बोदा, शान्ति रख। गडक को न पाकर हमें भी पल्ली

में सूना-सूना लगता है। गंडक तो बस्ती की शान है। अब हम कुछ करेंगे। पता लगाएंगे कि कहाँ रह गया है एण्डक! हम इन्तजाम करेंगे।" इस कथन ने बोदा को शक्ति दी। उसे धीरता और स्थिरता मिली। उसकी पुकार को उपयुक्त उत्तर मिल गया। बुझी-बुझी सी पज्जा भी अन्य कुछ युवतियों के साथ बैठी धरती को ओर ताक रही थी। उत्साहवर्धक वातावरण में उसको भी कुछ आशा बनने लगी। उसकी पलकें अब कुछ चंचल हुईं। पुतलियाँ सखियों की ओर मुड़ीं। उसके होठों पर एक क्षीण सी मुस्कान आयी। तुरन्त ही जीभ ने मानों पपड़ाये होठों को तर किया और मुस्कान को पोंछ लिया।

पल्ली के तीन युवक गण्डक की खोज में निकल पड़े। पज्जा ने उन्हें बता दिया था कि एक रात गण्डक बड़ा उत्साहित था। कहता था कि अब पज्जा को हाथी दाँत के पुराने पीले-फीके मनकों की माला नहीं पहननी पड़ेगी। कल वह हाथी का शिकार करने जायगा। नये चमकीले हाथी दाँत की माला अब उसके गले में होगी। पज्जा ने कहा कि उसने भी हाथी के शिकार में गंडक के साथ रहने की बात कही थी, किन्तु गण्डक ने कहा कि नहीं, वह अकेला ही जायगा, पज्जा का साथ होना ठीक नहीं है। जब पज्जा ने हठ किया तो उसने यह कहकर बात टाल दी थी कि अच्छा-अच्छा सबेरा तो होने दे, तब देख लेंगे। अभी रात में तो जाना नहीं है। सबेरे पज्जा की जब आँख खुली तो उसने पाया कि गंडक निकल चुका था। एक उदासी की पर्त ने मानो पज्जा के तन-मन को लपेट लिया था। पर कुहरे को भाँति, ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता रहा यह पर्त भी हल्की होती रही। कुछ समय में वह सामान्य हो गयी। अब उसे इस बात का भी दुःख था कि जाते-जाते गडक उससे दो बोल भी बोलकर नहीं गया। वह वह अवश्य कहता था कि गंगा किनारे लम्बाई में फैले वनों में हाथी खूब हैं, उनके दाँत भी अच्छे होते हैं और कभी वह वहींसे गजदन्त लेकर आएगा। खोजी जवानों को इस तथ्य से कुछ संकेत मिला। वे गंगा तटीय वनों की ओर चल पड़े। ये वन अत्यन्त घने थे। इनकी ख्याति हाथियों के लिए थी—इसमें तो कोई सन्देह नहीं; किन्तु अन्य हिंसक और भयानक जीव-जन्तु भी कम नहीं थे।

गंगा के किनारे मीलों लम्बाई में फैले ये वन पल्ली से कोई दो दिन की यात्रा जितनी दूरी पर थे। तीनों जवान इस मार्ग पर बड़े आत्मविश्वास

के साथ बढ़े जा रहे थे। गंडक की कोई खोज-खबर उन्हें अवश्य ही मिलेगी —इस विश्वास ने उनमें स्फूर्ति भरदी थी। उनमें से प्रत्येक के मन में इस प्रकार की आशंका थी कि गंडक के साथ हो-न-हो कोई अघटनीय घटित हो गया है; अन्यथा इतने समय तक वह लौटे नहीं इसका कोई कारण नहीं। सम्भव है वह····। अनेक-अनेक अशुभ बातें उनके मन में मँडराती रहीं, किंतु किसी ने भी प्रकट करने का साहस नहीं किया। यह वास्तव में उनके लिए न तो सुगम था, न लोकदृष्टि से व्यावहारिक ही था। वे अन्य-अन्य प्रसंगों में विस्तार से चर्चा करते चले जा रहे थे, किन्तु गंडक के प्रसंग को छेड़ना उनमें से किसी के लिए भी सरल न था। वे इस बिंदु पर मौन ही बने रहे।

सघन वन के आरम्भ होते-होते वे तीनों लगभग पूरी तरह निराश हो चुके थे। इसी वन में कहीं गण्डक की खोज-खबर मिलनी थी। अब तीनों खोजी कुछ बिखर से गये। अपनी दृष्टि को आस-पास दौड़ाते हुए वे आपस में कुछ दूर-दूर होते हुए खोजकार्य करने लगे। साथ ही साथ चलते, वे एक ही दिशा में आगे बढ़ रहे थे। उन्हें अपने अपने स्थल से कोई दूसरा साथी दिखायी नहीं देता था, किन्तु आवश्यकता होने पर उनकी आवाज एक दूसरे तक पहुँचायी जा सकती थी। अनजाने में वे चलते-चलते कभी समीप भी हो जाते और पुनः दूर हो जाते। तीनों दत्तचित्त होकर खोज में प्रवृत्त थे। एक पूरा दिवस असफलता के साथ बीता। रात्रि आयी। वन की रात्रि उनके लिए नयी नहीं थी, किन्तु स्थान नया था। उन्होंने सूखी लकड़ियाँ काफी मात्रा में बटोर लीं। अपेक्षाकृत कुछ खुला स्थल उन्होंने विश्राम के लिए चुना था। अग्नि प्रज्वलित कर वे उसके समीप बैठ गये। बारी-बारी से एक खोजी प्रहरी बना, शेष दो कुछ-कुछ समय के लिए सो लेते। पिछली रात्रि को तीनों जाग रहे थे। रात्रि भर का वन्य जीव जन्तुओं का भयानक शब्द अब चरम पर पहुँच गया था। भुँह अँधेरे उन्हें अनुभव हुआ जैसे काफी बड़ा गजदल उनसे कुछ दूरी पर से निकल रहा हो। अनेक हाथियों का सम्मिलित स्वर था। खोजियों ने दिशा का अनुमान लगाया। भोर होते-होते वे अंगड़ाइयाँ लेते हुए उठ खड़े हुए और उस दिशा की ओर बढ़ गये। कोई आधा प्रहर चल चुकने पर उन्हें गंगा के दर्शन हुए। गज-समूह जल क्रीड़ारत था। खोजियों को कुछ विश्वास होने लगा कि हो न हो यहीं कहीं हमें गंडक का अता-पता मिलेगा।

अब तीनों युवक साथ-साथ आगे बढ़े। सभी की खोज दृष्टि अपने

पूरे पैनेपन के साथ आस-आस सब ओर फैलती रही। पूरी तरह चौकन्ने और चौकस तीनों जवानों की समग्र चेतना इस समय केन्द्रीभूत हो गयी थी। एक खोजी को तट की बालू पर राख की ढेरी दिखायी दी। उसके संकेत पर शेष दो भी उस ओर देखकर कुछ सोचने लगे। यह साधारण बात नहीं थी। यदि किसी ने रात बिताने के लिए आग जलायी हो तो जल का तट क्यों चुना गया। रात्रि में ऐसा स्थान तो निरापद नहीं माना जाता। वन्य पशु पानी पीने के लिए आते रहते हैं। फिर यह अग्नि किस प्रयोजन से प्रज्वलित की गयी होगी? उलझनों को सुलझाने के प्रयास में वे राख के समीप पहुँचे। ढेरी देखकर उन्हें लगा—नहीं, यह अग्नि सुरक्षित रात्रियापन हेतु नहीं लगायी गयी होगी। यदि ऐसा होता तो राख गोलाई में फैली होती आस-पास अधजली लकड़ियाँ भी शेष पड़ी थीं। यदि वह प्रयोजन रहा होता तो उस व्यक्ति द्वारा चुन-चुनकर अधजली लकड़ियाँ भी आग में डाल दी गयी होतीं। ढेरी का आकार भी लम्बाई में फैला था। एक ने निष्कर्ष दिया—"भैया! यह तो कोई चिता है!" और अन्य खोजियों ने सिर हिला कर अनुमोदन कर दिया। "तो क्या गंडक की चिता है यह!"—एक ने कहा। दूसरे ने अर्द्धानुमोदन के स्वर में कहा—"किन्तु बिना प्रमाण के हम ऐसा मान भी कैसे लें। कुछ तो साक्ष्य मिलना ही चाहिए।"

तभी पहले खोजी ने तनिक उत्साह में भरकर कहा—"वह देखो··· वह बाण··· वह बाण किसका है?" तीनों लपककर वहाँ पहुँचे। देखा एक बाण अपनी नोक को तनिक सी धरती में गड़ाये कुछ खड़ा सा है। बाण को निकाल कर देखा गया। उसकी नोंक पर थोड़ा सा रक्त सूख रहा था।

स्पष्ट हो गया कि धनुष से चलकर यह बाण सीधा धरती में नहीं धँसा था। इससे किसी प्राणी पर पहले प्रहार हुआ है। फिर बाण निकाल कर फेंका गया है और वह धरती में गड़ गया है। बाण को एक खोजी निरख-परख कर देखने लगा। यह बाण है हमारी पल्ली का ही, वह यह बता ही रहा था कि अन्य खोजी की दृष्टि धनुष पर पड़ी जो कुछ दूरी पर फेंका हुआ पड़ा था। लपक कर वह उसे उठा लाया। लौटते समय धनुष को ध्यान से देखते हुए वह उत्साहित स्वर में बोल पड़ा—ठीक विचार है तुम्हारा—वह बाण अवश्य ही हमारी पल्ली का होगा···अवश्य होगा। यह धनुष भी तो हमारी पल्ली का ही है। इस पर नाग देवता अंकित हैं। तभी तीसरे खोजी की दृष्टि पक्षी के पंखों के एक बाजू पर पड़ी जो बाण के प्रहार से उड़ गया होगा। यह पंख तो चकवा पक्षी का है।

सारा घटना चक्र जैसे विलोम गति से चल रहा था। इति से अथ की ओर वह चकित तो हो गया था, किन्तु अथ तक पहुँचकर उसका गति हीन हो जाना अभी शेष ही था। इसके मूल में कौन व्यक्ति रहा—अभी कुछ कहा नहीं जा सकता था। हाँ, यह धनुष संभवतः गंडक का हो····उसे पीत रंग अधिक प्रिय था और इस पर भी पीत रंग की धारियाँ बनी थीं। किन्तु इससे क्या मात्र इस आधार पर धनुष को गंडक का मानना ठीक नहीं था। इधर एक खोजी अपनी पैनी दृष्टि गड़ाये, राख में साक्ष्य खोजने लगा। एक सूखी टहनी से वह राख कुरेदने लगा। कुछ ही पलों में यह तो निश्चित हो गया कि अवश्य ही यह कोई मानव चिता है। अब भी यह नहीं कहा जा सकता था कि इसमें गंडक का दाह हुआ होगा। खोजी अब तक के प्राप्त साक्ष्यों से इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते थे। राख की ढेरी के मध्य भाग से एक छोटी सी छुरी निकली। लोहे का भाग मात्र रह गया था। लकड़ी का दस्ता तो जल चुका था। यह छुरी वैसी ही थी, जैसी गंडक हर समय अपने साथ रखा करता था। चिता के दूसरे छोर से ताम्बे का एक कड़ा मिला जिसे गंडक अपने बांये पैर में पहना करता था। अब निश्चय के साथ कहा जा सकता था कि गंडक इस चिता में अन्तिम संस्कार को प्राप्त हुआ।

इस समस्त खोज-बीन के पश्चात् भी उन परिस्थितियों का आभास भी नहीं हो पा रहा था जिन में यह घटना घटित हुई होगी। क्या उसे किसी ने जला दिया! यहाँ संघर्ष के कोई चिह्न भी दिखायी नहीं दे रहे। तो क्या उसने आत्मदाह कर लिया··· ऐसा क्यों किया होगा उसने !!

पल्ली की ओर वे तीव्र गति से बढ़ते आ रहे थे, किन्तु अब ज्यों-ज्यों बस्ती समीप आ रही थी, खोजियों के पैर जैसे जमीन से उठते ही नहीं थे। मन का भारीपन देह को भी शिथिल कर देता है। निराशा और अवसाद के कारण वे निस्तेज थे। खोजी के हाथ में धनुष-बाण देखकर ही पज्जा जोर से चिल्लाकर रोने लगी और पछाड़ खा कर धरती पर गिर पड़ी। उसने गंडक के धनुष को पहचान लिया था। बोदा अपने दुर्भाग्य का रोना रोता हुआ आंगन में बैठा विलाप करने लगा। उसकी वृद्धावस्था अभिशप्त होकर दयनीय बन गयी थी। कुछ ही पलों में इस संवाद ने सारी पल्ली को शोक-मग्न कर दिया कि वह बाँका जवान गंडक अब नहीं रहा··· बेचारी पज्जा···। सभी को सब सुख कहाँ मिलते हैं। अभागिन की सारी

सुन्दरता पर पानी फिर गया। कितना तो प्यार था गंडक और पज्जा में। अभी तो पहाड़ सा जीवन पड़ा है उसके पास। बेचारे बोदा का बुरा हाल है—इस बुढ़ापे में ये दिन लिखे थे—उसके भाग्य में। सच ही है मनुष्य के हाथ में कुछ भी तो नहीं। ऐसी-ऐसी अनेकानेक बातें होती रहीं। सभी को सहानुभूति थी—पज्जा के प्रति।

गंडक नहीं रहा—यह तो सत्य और तथ्य रूप में स्थापित हो गया, किन्तु उसकी इस दशा का कारण क्या रहा, कोई समझ न पा रहा था। किसी दूसरी पल्ली वालों के साथ मुठभेड़ हो गयी हो और उन्होंने मार कर जला दिया हो गण्डक को—क्या ऐसा नहीं हो सकता? होने को तो ऐसा भी हो सकता है, पर जो मारने वाला होगा वह चिता बनाकर जलाने का श्रम क्यों करेगा!! हाँ, यह भी विचारणीय तो है।

साध्वीजी ने बताया कि ऐसी अनेक संभावनाओं पर पल्लीवासी विचार कर रहे थे। किसी निश्चित बिन्दु पर पहुँचना उनके अनुमान के लिए कठिन ही था। श्रेष्ठी-पत्नी सोमावती का हृदय संवेदना और करुणा से भर आया था। उसके नेत्रों में जल तैर आया और काजल की रेखा तर होने लगी। कुछ क्षणों तक तो उसकी वाणी ही निष्क्रिय रह गयी। उसने अपनी सारी शक्ति संचित करके तब काफी समय बाद कहा—"बेचारी पज्जा का ऐसा कठोर भविष्य था!! हाय-हाय!" कुछ क्षण रुक कर उसने अपनी उँगली की पोरों से ही आँखों की आर्द्रता को पोंछा और पूछ लिया—"आप तो सब कुछ जानती होंगी न! बताइये, क्या बीती पज्जा के प्रियतम पर वह कैसे मृत्यु को प्राप्त हो गया?"

"हाँ, मैं तो जानती हूँ सब जानती हूँ। कैसे क्या हुआ—यह मुझ से छिपा नहीं है। मैं तुम्हें सुनाती हूँ।" साध्वीजी ने कहा और सोमावती यह भूल कर कि वह तो साध्वीजी के जीवन-वृत्तान्त को जानना चाहती थी, यह पज्जा की कथा और वह पज्जा को सहानुभूति में डूबी हुई अब इस घटना को जान लेने को उत्सुक हो उठी। जिज्ञासा ने उसे कुछ आगे धकेला और वह साध्वीजी के कुछ और समीप खिसक आयी। साध्वीजी के चरणों में बैठी सोमावती साध्वीजी के मुख की ओर एकाग्रभाव से ताकने लगी और साध्वीजी ने आरम्भ किया।

\+ \+ ×

पल्लीवासियों का अनुमान सत्य नहीं था। गंडक जैसे शूर-वीर,

साहसी नौजवान के लिए यह साधारणतः नहीं सोचा जा सकता कि यों वह किसी के हाथों मारा जा सकता है। चिंता ने इस आशंका को निर्मूल कर ही दिया था, अन्य अनेक आशंकाएँ भी स्वतः समाप्त हो गयी थीं कि वह वन्य जन्तुओं का शिकार हो गया, अथवा और कुछ! यह कुछ भी नहीं हुआ—वह तो अपनी आत्मग्लानि का ही शिकार हो गया था। हुआ यों कि वह उस पिछली रात को ही पज्जा को सोती हुई छोड़कर गजों की खोज में निकल पड़ा था। उसे भय था कि यदि पज्जा जाग गयी तो वह भी साथ चलने का हठ करेगी। इस कारण दबे पाँव ही वह कुटिया से बाहर हो गया था। चलते-चलते वह उस गंगा तटीय वन में पहुँच गया जो गजवास के लिए प्रसिद्ध था। गंगा तट पार होकर वह सीधा आगे बढ़ता गया। उसे विश्वास था कि पानी के लिए हाथी आएँगे। किनारे-किनारे वह बहुत आगे चला आया, किन्तु जब उसे हाथियों का चिह्न दिखायी न दिया तो वह एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया और दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाने लगा। वह शाखाओं में घुस कर बैठ गया और वहीं प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही समय पश्चात् उसे कुछ दूरी पर पेड़ों के बीच हलचल अनुभव होने लगी। शाखाओं के टूटने की ध्वनि भी आने लगी। गंडक को लगा कि इधर से अवश्य ही कोई हाथी आ रहा है। उसका अनुमान ठीक ही निकला। कुछ पलों में ही उसे हाथी दिखायी दे गया। उसके बड़े-बड़े दाँत देखकर गंडक का मन लुभा गया। उसे अपनी कल्पना के नेत्रों के समक्ष अपनी प्रेयसी दिखायी दे गयी। जिसकी सुन्दर ग्रीवा में शुभ्र-श्वेत गजदन्त के अनेक हार पड़े हुए थे कितना तो संतोष गंडक को मिला यह छवि देखकर। वह पज्जा के हर्षित मुखमण्डल को इस प्रकार देखते-देखते आत्मविभोर हो उठा। गंडक ने देखा कि हाथी आशा के अनुरूप गंगा की ओर ही बढ़ रहा था। गंडक का काम बन ही गया था। अब तो उसे हाथी-दाँत सीधे-सीधे प्राप्त ही कर लेना है। हाथी अब उसके अधिकार में आ गया है और वह जब चाहे आखेट कर लेगा। उसने सोचा क्यों न तब फिर इसे जलक्रीड़ा का आनन्द उठा लेने दिया जाय। गण्डक बिना कोई शब्द किये धीमे-धीमे वृक्ष से नीचे उतर आया और काफी दूरी बनाए रखते हुए वह हाथी के पीछे-पीछे चलने लगा।

हाथी गंगाजल में उतर कर जलक्रीड़ा करने लगा। प्रफुल्लित मन से गण्डक उसे ताकता रहा। वह दूर एक चट्टान पर झाड़ियों की आड़ में

लुका, सब कुछ देखता रहा। सोचने लगा कि अच्छा है कि आज हाथी अकेला है। समूह में होता तो समस्या ही रहती। नियमानुसार तब उसका वध नहीं किया जा सकता था। हाथी सूँड़ में पानी भरकर कभी अपनी पीठ पर उछालता तो कभी फव्वारे की भाँति ऊपर उछाल देता। कभी वह पानी में अदृश्य हो जाता, तो कभी पूरे वेग से तैरता आगे बढ़ जाता। किसी मनुष्य की उपस्थिति से अनभिज्ञ हाथी निश्चिन्त मन से क्रीड़ा कर रहा था। उसकी विशाल पीठ पर निर्भीक छोटे-छोटे पक्षियों की उछल-कूद से भी उसे बड़ा आनन्द मिला करता था। आज भी नन्हीं चिड़ियाओं का एक जोड़ा उसे आनन्दित कर रहा था। गण्डक दूर से देख रहा था, हाथी की पीठ पर बड़ी तन्मयता के साथ चिड़ियों का यह युग्म बड़े ही प्यार के साथ क्रीड़ा-मग्न था। अघाकर जब हाथी पानी से बाहर निकल आया और वन के भीतरी भागों के लिए चल पड़ा, तब भी पक्षी उसके ऊपर-ऊपर उड़ते, उछलते-कूदते रहे। हाथी के साथ आगे बढ़ता जोड़ा जब समीप आया तो गण्डक पहचान पाया कि ये सो चकवा-चकवी थे। यह जानकर तो उसका मन मयूर नृत्य ही करने लग गया। उसे अपनी प्रेयसी का निर्मल प्रेम स्मरण हो आया। चकवा-चकवी का प्रेम अपने पक्केपन के लिए, अपनी अटूटता के लिए विख्यात है और इसकी महत्ता को गण्डक भलीभाँति जानता था। इन नन्हे पंछियों ने उसके मन का प्रेमभाव जागृत कर दिया और उसे पत्नी को पाकर गर्वानुभव होने लगा। वह चकवी से कम नहीं है और मैं भी चकवा हूँ। ऐसा ही तो प्रेम है हमारा – जैसा····।

यही सब कुछ सोचते-सोचते वह हाथी के पीछे-पीछे चल रहा था। उसे लगा कि अब देरी नहीं करनी चाहिए। हाथी पर यहीं काबू पाया जा सकेगा। कुछ और आगे चला गया तो हाथ से निकल जायगा यह सोचकर वह रास्ता काटकर कोई सौ गज आगे निकलकर कुछ ऊँची भूमि पर खड़ा हो गया। उसने अपना धनुष सँभाला और हाथी के समीप आने की प्रतीक्षा करने लगा। अब भी चकवा-चकवी हाथी की पीठ पर क्रीड़ा कर रहे थे। कभी चकवा सीधा ऊपर को उठकर एक चक्कर उड़ान भरता और लौटकर बैठ जाता। कभी चकवी गुलांछी सी लगाती धरती पर आ बैठती, दो चार कदम चहलकदमी करती और फिर पीठ पर आ बैठती। कभी दोनों साथ-साथ उड़ान भरते और लौट आते। कभी अपनी चोंचें मिलाकर प्रेमालाप करने लगते। गण्डक को अब धनुष साधना था। पहला तीर वह हाथी के मस्तक में मारना चाहता था। उसने क्रम रोककर निशाना ताका, पूरी

शक्ति से धनुष की डोर को कान तक खींचा और तीर छोड़ दिया। उसी क्षण भयंकर अनर्थ हो गया। जाने कहाँ से उड़ता-उड़ता चकवा बीच में आ गया। तीर उसे लग गया। पीड़ा से कराहता, तीर में बिंधा चकवा धराशायी हो गया। बाण में बिंधा उसका एक डैना अपने मूल से उखड़कर अलग ही हो गया। इस महा अनर्थ पर गण्डक विचलित हो उठा। उसका तन-मन सिहर उठा। यह क्या हो गया उससे! उसने तो प्रेमरत जोड़े में से चकवे को मार दिया। चकवी के दुःखद वियोग का वह कारण बन गया है। अब यह भी तो जीवित नहीं रहेगी; रो-रो कर प्राण त्याग देगी। मैंने प्रेमी युगल की निर्दयतापूर्वक हत्या की है—यह मेरा जघन्य अपराध है। यह सोच-सोचकर गण्डक मन ही मन पीड़ित हो रहा था।

उसने देखा कि चकवी अपने मृत प्रेमी चकवे के समीप बैठकर घोर क्रन्दन करने लगी। वह धरती पर चोंच पटक-पटक कर जोर-जोर से चिल्ला रही थी। कभी वह एक तरफ बैठकर चकवे को समीप से झांकती तो कभी फुदककर दूसरी ओर चली जाती और चकवे को ताकने लगती। पक्षियों की कोई भाषा नहीं होती, पर उनके हृदयगत भाव प्रकट तो होते ही हैं। चकवी भी घोर आर्तनाद करती हुई अपने प्रिय चकवे की मृत्यु पर शोक से आकुल हो उठी थी। उसने अपने अशक्त पंखों से भी एक लम्बी उड़ान भरना तक भरी। चोंच में दो जल-कण लायी और चकवा के घाव पर रिसा दिये। तब वह झुककर प्रतिक्रिया को ताड़ने का प्रयत्न करने लगी। उसने पाया कि कोई हलचल नहीं है और निराश-दुःखी होकर वह तीर पर अपनी चोंच मारने लगी। कभी वह चीं चीं··· करती हुई उड़ती और गोल-गोल एक-दो चक्कर लगाती, फिर चकवा के समीप बैठ जाती। यह उसके अन्तर्मन की उद्विग्नता और छटपटाहट की अभिव्यक्ति थी। बैठकर वह ऐसा क्रन्दन करती कि सुनने वाले का हृदय हिल जाता। गण्डक की यही दशा थी। वह आत्मग्लानि में गड़ा जा रहा था। उसी यह क्या दुष्कर्म हो गया। वह अनुभव कर रहा था, मानो चकवी रो-रो कर कह रही थी—प्रिय, तुम्हारा यह दशा जिसने की है, जिसने हमारी जोड़ी को खण्डित किया है—सुख से वह भी नहीं रह पायगा। तुम गये प्रिय अब मैं भी जीवित नहीं रहूँगी। तुम्हारे संग ही मैं प्राण-त्याग करूंगी। अब मैं किसके लिए जीऊँ। जब हमारा प्यार ही खण्डित हो गया तो जीवन का अब प्रयोजन ही क्या है और वह अपने सिर को घुमाने लगती, तेज-तेज कदमों से मृतक चकवे की परिक्रमा करती और मानो टकटकी लगाकर अपने जीवन-साथी को देखने

लग जातो। वह बड़ी दुःखी थी। उसके दुःख से कहीं अधिक दुःखी और कातर था गण्डक। गण्डक के मन में प्रायश्चित्त का घना-घनेरा भाव घुमड़ रहा था। वह अशान्त और उद्विग्न मन से कुछ भी निश्चित नहीं कर पा रहा था।

चकवी के शोक और क्रन्दन से अभिभूत गण्डक ने सोचा कि जब तक उसे मृत चकवा दिखायी देता रहेगा, वह यों ही विलाप करती रहेगी। गण्डक उठा, उसने सूखी लकड़ियाँ बटोरीं और एक चिता जमाकर मृतक को उस पर कोमल सूखी घास पर लीले-से लिटा दिया। अनेक लकड़ियों को उसके आस-पास और ऊपर रखकर चिता को अन्तिम रूप दिया गया। इस समय भी चकवी दूर वृक्ष की टहनी पर बैठी रुदन करने लगी थी। और उस समय तो मानो उसका रोदन धरती-आकाश को एक करने लगा। अब गण्डक ने चिता में अग्नि प्रज्वलित की। चिता कुछ धुँधकती हुई लपटों में बदल गयी। अब चकवी बैठी नहीं रह सकी। उसने डाल छोड़ी और चिता का चक्कर लगाती हुई तीव्र गति से उड़ने लगी। सहसा वह ऊपर को उठी और चिता के ठीक ऊपर आकर रुकी। ऊँचाई से वह एकदम गिरी और उसने अग्नि-प्रवेश कर लिया। कुछ क्षणों तक ज्वालाओं में वह तड़पी और फिर सब कुछ शान्त। चकवी ने अपना प्रणय-प्रण पूर्ण किया। प्रेमी चकवे के साथ ही अपना प्राणांत कर दिया।

चकवी की इस करनी ने गण्डक के हृदय-मंथन को चरम तक पहुँचा दिया। पश्चात्ताप के आवेश में वह उठा और कुछ क्षण मौन खड़ा रह गया। प्रेम की प्रणपूर्ति का जो दृश्य उसने अभी देखा, वह उससे हिल गया था। चकवा-चकवी के इस प्रेमी युगल के दुखद अन्त का सारा दायित्व स्वयं उसका है, वह घोर पापी है, उसे भी अब जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है। प्राण-त्याग द्वारा ही वह अपने घोर दुष्कर्म का प्रायश्चित्त कर सकता है—उसे अब मर जाना चाहिए, वह जीवन का अधिकार अब खो चुका है। यही सब सोचते-सोचते उसके मन में एक भयानक विचार आया। उसने आस-पास कुछ भारी लक्कड़ इकट्ठे किये और इसी चिता का विकसित किया। देखते ही देखते विशाल ज्वाला-पुंज धधकने लगा। वन के मुक्त पवन ने इसे और भी प्रखर बना दिया। गण्डक पर भयानक आवेश व्याप्त था। अपलक नेत्र कुछ अधिक फैलकर आरक्त हो गये। उसकी माथे की नसें फूलकर तन गयी थीं। उसने भीतर का सारा बल संचित कर अपने

संकल्प को दोहराया। इसी प्रक्रिया में उसकी बाँहें तन गयीं और मुट्ठियाँ भिच गयीं। सहसा वह उछला और चिता में प्रविष्ट हो गया। ज्वालाएँ कुछ क्षण थमकर पुनः ऊपर को उठने लगीं, चिनगारियाँ चिटख कर इधर-उधर फैलने लगीं। आस-पास के वृक्ष झूमते-काँपते दिखायी देने लगे, मानो इस वीभत्स कांड से यह वन-खण्ड प्रकम्पित हो उठा था। देखते ही देखते तीन प्रेमी इस वन में अग्नि-समर्पित हो गये।

चौथी पज्जा भी पल्ली में मानो दहकती चिता में ही जल रही थी। उसका गण्डक-विहीन जीवन ऐसा ही दहक और कष्टकर था। विरहानल तो चिता से भी अधिक संतापकारी होता है। कौन नहीं जानता कि पज्जा-गण्डक की जोड़ी सदा ही पूरी दिखायी देती थी। उनमें से किसी को अकेले देख पाना कठिन था। इसी कारण इन्हें सारस की जोड़ी कहा जा सका था। सारस की समता अपने साथ स्थिर किये जाने पर पज्जा अप्रसन्न भी होती थी। गण्डक तो अपनी जोड़ी चकवा-चकवी की जोड़ी जैसी मानता था। पज्जा उसके इस विचार से प्रसन्न ही नहीं, सन्तुष्ट भी थी। किन्तु गण्डक के मरण ने इन दोनों उपमाओं पर प्रश्नचिह्न जड़ दिये थे।

प्रेमी गण्डक ने प्रेम के आदर्श पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी थी। अब वह इस जगत् में नहीं रहा—यह सत्य था, किन्तु पज्जा उसे कहाँ मृत मानती थी। वह तो सदा उसकी यादों में खोयी रहती थी। गण्डक उसे अब भी अपने साथ रखता था—वह गण्डक के साथ रहा करती—स्वप्न में नहीं। स्वप्न के लिए तो निद्रा आवश्यक होती है न! और उसे नींद कहाँ!! यदि वह स्वप्न था भी तो वह दिवास्वप्न था—जागती आँखों का सपना! पूर्व की भाँति ही गण्डक पज्जा को अपने आस-पास अनुभव हुआ करता था। निष्ठुर प्रारब्ध की कठोरता से उसका अनुरागी चित्त विदीर्ण हो गया था, वैरागी हो गया था। पज्जा का अपना कहलाने योग्य जैसे उसे कोई शेष लगता ही नहीं था। बिछोह की मारी वह सर्वथा भग्नाश और बुझी-बुझी रहने लगी थी। वह अपनी फूस की झोंपड़िया में अकेली पड़ी रहती। पिता से भी उसे बात किये कई-कई दिन हो जाया करते थे। उसे न अपने साज-सिंगार में रुचि थी और न लोक व्यवहार में। कभी-कभार उसकी कोई सखी आती भी तो वह मूक-मौन धरती को अपलक देखती रहती—सखी उपेक्षित सी कुछ समय रुकती और चली जाती। धीरे-धीरे उसकी सखियों का आना कम—बहुत कम हो गया।

वृद्ध पिता बोदा अपनी प्यारी बिटिया के दुःख से अत्यन्त विह्वल रहता था। दोनों हाथ ऊपर उठाकर वह अपनी मृत्यु की कामना करता रहता था। अपनी आँखों के सामने उसने अपनी युवती कन्या का वैधव्य देखा—इससे बढ़कर दुर्भाग्य की भी क्या कोई कल्पना की जा सकती थी। वह दुर्बल तो था ही; इस हताशा ने कब उसे और भी अशक्त बनाकर शैया-ग्रस्त कर दिया, तो वह सभी की करुणा का पात्र हो गया। वृद्ध पिता की इस दयनीय दशा ने विरक्त पज्जा के मन में भी सेवा भाव को अंकुरित किया, कर्त्तव्यबोध के जल ने सींचकर उसे विकसित किया और वह रुग्ण पिता की सेवा में लग गयी। उसके जीवन का रूप क्रमशः परिवर्तित होने लगा। वह जगत् से उन्मुख होने लगी। आस-पास के लोगों से, अपनी प्रिय सखियों से उसका संसर्ग पुनर्जीवित होने लगा। समय सबसे बड़ा चिकित्सक होता है। समय तन के ही नहीं, मन के भी सभी घावों को भर देता है। धीरे-धीरे पज्जा का मन भी जगत के विषयों में पुनः रमने लगा। उसे अब भी अपने विगत प्रेम और प्रेमी से विमुख नहीं कहा जा सकता था। सबसे विदा होकर जब वह अकेली रह जाती तो उसे अपने एकान्त क्षणों में गंडक और उसकी प्रीति ही स्मरण आती रहती। वह इस दुखद जगत् से पृथक होकर एक कल्पना लोक में खो जाती, जहाँ वह होती, उसका प्रियतम होता, उसकी प्रीति होती बस और कोई भी नहीं। कोई कठोर कर्त्तव्य-बोध ही उसे इस लोक से धकिया कर बाहर निकाल देता था और तब निकलते-निकलते ही उसे लगता कि मैं कब लौटूँगी इस लोक में। काश! जाना न पड़ता मुझे यहाँ से !!

और एक दिन पज्जा के जीवन में एक भूचाल सा आ गया, जब उसके पिता का देहावसान हो गया। उसकी आयु ही पूर्ण होने को आ गयी थी। उसे जाना ही था, चला गया, किन्तु उसके चले जाने से पज्जा अनाश्रित रह गयी थी। स्त्री को पुरुष का संरक्षण सदा ही काम्य होता है। यह संरक्षण पति के रूप में मिला और छिन गया। फिर से पिता के रूप में मिला था—वह भी छिन गया। वह असहाय और एकाकी छूट गयी थी। उसने नियति की इस कठोरता को भी स्वीकार किया, किन्तु पुरुष-संरक्षण की पूर्ति की कामना उसके मन में उदित हो गयी। वह अकेली, यों निपट अकेली कैसे रहेगी, अन्य जन ही नहीं, वह स्वयं भी इसे चिन्ता का विषय मानने लगी थी।

लाखी, भोला आदि उसकी अनेक सहेलियाँ पूर्व में प्रयत्न करते-करते थक गयी थीं और पज्जा इस हेतु अपनी तनिक भी रुचि नहीं दिखाती थी कि उसके पुनर्विवाह की चर्चा भी चले। बात बुलबुले की भाँति उठती और विलीन हो जाती थी। आज स्वयं पज्जा लालायित थी कि उसके विवाह की बात चले। सखियाँ अब तटस्थ हो गयी थीं। बुल-बुला जब उठेगा—स्वतः ही उठेगा, किसी के चाहने से क्या होता है। पज्जा के मन में एक मीठी सी कसक, एक गुदगुदी सी उठने लगी। कभी वह किसी अन्तरंग सखी के सम्मुख खुल भी जाती, कहती जीवन का यह लम्बा सफर अकेले कैसे कटेगा मुझसे ...। और निरीह सखी यही आशय ग्रहण कर पाती कि पज्जा को गंडक की याद सता रही है। वह इतना कहकर प्रसंग को समाप्त कर देती कि अब धीरज रख पज्जा। समझ ले कि गंडक और तेरा साथ इतना ही था। पज्जा बेचारी मन मसोस कर रह जाती, क्या करती! अपनी बात प्रकट करने की उसे अन्य कोई राह सुझाई ही नहीं देती थी।

वह तो भला हो कोडू का कि एक दिन वह स्वयं ही विवाह का प्रस्ताव लेकर पज्जा के पास आ पहुँचा। इसी कोडू के विषय में गंडक से विवाह के पूर्व अनेक बार पज्जा से कहा गया था और पज्जा नाक-भौंह सिकोड़ती रहती थी। जोर लगाकर अपनी आँखों को ऐसी भींच लेती थी कि मानो वह उसकी छवि के किसी अंश को भी दर्शन के योग्य न मानती हो। उसका यह व्यवहार सखियों की दृष्टि में उसको रूपगर्विता ठहराता था। गंडक के निधन पर भी काफी समय तक वह कोडू विषयक प्रस्ताव को नकारती ही रही। आज जब परिवर्तित परिस्थितियों में चिर प्रतीक्षा और लालसा के वातावरण में फिर से यह बात छिड़ गयी, तो पज्जा अपनी तटस्थता छोड़कर स्वीकार का रुख दिखाने लगी। कोडू के सम्मुख उसकी पलकें झुक गयीं, नत शिर पज्जा अपने निचले होंठ का छोर दाँतों में दबाने लगी। पाँव के अँगूठे से धरती पर रेखाएँ बनाती वह मौन ही रही, किन्तु उसके रोम-रोम ने हाँ कर दी थी। उसकी स्वीकारोक्ति गोपनीय भी नहीं रही। सभी ने प्रसन्नता के स्वर में कोडू को बधाइयाँ दीं। कालान्तर में कोडू और पज्जा का मेल हो गया। दोनों सुखी विवाहित जीवन बिताने लगे। पज्जा के रूठे हुए दिन फिर अनुकूल हो गये।

४

सुनो सोमावती ! मैं तुम्हें एक और कहानी सुनाती हूँ। वह कहानी यदि वन्य प्रदेश की थी तो अब यह कहानी नगरीय वातावरण की है। तुम्हें फिर ऐसा अनुभव होगा कि मैं यह सब तुम्हें क्यों सुना रही हूँ ? तुमने जो प्रश्न किया, मेरे जीवन के विषय में जिज्ञासा प्रकट की – उससे इसका क्या सम्बन्ध ? तरुणी साध्वीजी ने सोमावती की उत्सुकता बढ़ाते हुए कहा। उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि सोमावती को इस रोचक कथा में आनन्द भी आएगा और उसके उत्तर के सूत्र भी इसमें कहीं मिलने लगेंगे। कुछ पलों के लिए उन्होंने अपने नेत्र निमीलित कर लिए, मानो अपना ध्यान केन्द्रित कर वे मूल विषय के आरम्भिक छोर को पकड़ने का प्रयत्न कर रही हों। धीमी-धीमी उनकी पलकें उठीं और गम्भीर वाणी में उन्होंने कहा—तो सुनो, यह कहानी सुनो। सोमावती सेठानी तनिक और समीप खिसक आयी। उसकी दृष्टि साध्वीजी के मुखमण्डल पर जम गयी। कहानी आरम्भ हुई।

वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी की चर्चा है। यमुना तट पर बसी यह नगरी दो बातों के लिए अति प्रसिद्ध रही—एक तो इसका धर्मप्रिय, कलाकार नरेश उदयन और दूसरे इस नगर के उदारमना श्रेष्ठी जन। यह कुबेरों की नगरी थी। अनेकानेक लक्षपतियों का निवास इस नगर में था। कौशाम्बी अपने समय का प्रतिष्ठित व्यवसाय केन्द्र था। समुद्री व्यापार की प्रवृत्ति वाले सार्थवाह धनदेव का योगदान कौशाम्बी की गौरव-वृद्धि में महत्वपूर्ण माना जाता था, तो इस नगर में रत्नचन्द्र, सागरचन्द्र, पद्माकर मणिचन्द्र आदि एक से बढ़कर एक यशस्वी धनाढ्य व्यवसायियों से कौशाम्बी की श्रीवृद्धि होती थी। इन सब में शिरोमणि था श्रेष्ठी ऋषभसेन। ऋषभसेन की गौरव-गरिमा अतुलनीय थी। वह नगर सेठ था।

राजा उदयन के अन्तरंग मित्रों में ऋषभसेन की गणना होती थी। नरेश अपने नगर श्रेष्ठी से स्नेह रखता, उसका आदर करता, उसके परामर्श को समुचित महत्ता भी देता था। कोई संध्या तो ऐसी न होती थी कि जब नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन का कुछ समय नरेश उदयन के राजभवन में व्यतीत न होता हो। आज इस दृष्टि से तनिक और ही प्रकार का व्यवहार था, जब नृपति उदयन स्वयं श्रेष्ठी ऋषभसेन के अतिथि थे।

श्रेष्ठी भवन आज अद्भुत रूप से सज्जित-शृंगारित था। रंग-बिरंगी पताकाएँ फहरा रही थीं। फूलों, आम्रपल्लवों की वन्दनवारों से सभी द्वार सजाए गये थे। उद्यान को विशेष रूप से व्यवस्थित किया गया था। इस सुन्दर उद्यान के मध्य स्थित वैभवपूर्ण भवन और भी अधिक सुन्दर दिखायी देता था। उद्यान के मुख्य द्वार पर कदली स्तम्भों से निर्मित भव्य स्वागत द्वार था। समारोह स्थल तक पहुँचने वाले पथ पर मुख्य द्वार से ही लाल मखमल का पाँवड़ा बिछाया गया था। बीच-बीच में स्वर्ण स्तम्भों और हीरक-मुक्ताओं से जगमगाते कुछ और भी तोरण-द्वार थे। उद्यान के उन्मुक्त, दूर्वायुक्त प्रांगण में ही समारोह था। सामने विशाल पट पर यमुना का प्रवाह चित्रित था, उसमें तरंगें विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती थीं। इस विशाल फलक के समीप ही भव्य सिंहासन निर्मित किया गया था, जिस पर प्रसन्न मुद्रा में राजा उदयन विराजमान थे। समीप ही दो अपेक्षाकृत छोटे आसनों पर ऋषभसेन नगर श्रेष्ठी और उसकी पत्नी सुनन्दा बैठी थी। आजू-बाजू और सामने की पंक्तियों में राजदरबारी, अधिकारीगण, श्रेष्ठीजन और गणमान्य संभ्रान्तजन शोभा दे रहे थे। सभी ओर एक सानन्द गरिमा का प्रसार था।

महाराज उदयन ने मैत्रीभाव से मुस्कुराते हुए नगर श्रेष्ठी की ओर दृष्टिपात किया और गम्भीर वाणी में कहा—"हमारे नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन की माया बड़ी अद्भुत है। आज इन्होंने यह विराट् आयोजन किस उपलक्ष में कर लिया—अब तक ये इसे रहस्य ही बनाये हुए हैं। हमें तो प्रयोजन रहित आमन्त्रण मिला, जिसे स्वीकार किये बिना हम रह नहीं सके, आना ही पड़ा। भव्य स्वागत पाकर भी हम गद्-गद् हो गये, किन्तु अब तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि आयोजन का मूल उपलक्ष है क्या? मित्र नगर श्रेष्ठी! कुछ बताइये, अब रहस्य को खोलिये भी!!"

ऋषभसेन शान्त भाव से ही अपने आसन से उठा और मंथर गति से

नरेश के समक्ष उपस्थित होकर सादर नमन किया। फिर उपस्थितजनों की ओर उन्मुख होते हुए बोला—धर्मप्रवर राज-राजेश्वर और बन्धु-बांधवो! एक व्यक्तिगत हर्ष-प्रसंग में आप सभी स्नेही श्रीमानों को सम्मिलित करने की अभिलाषा के अधीन आपको कष्ट दिया है। आप तो श्रीमान भलीभाँति जानते ही हैं कि मुझे आठ पुत्र-रत्नों की प्राप्ति हुई है। चार पुत्र-वधुओं की पायल-ध्वनि से मेरा भवन गूँजता रहता है। भाग्य की कृपा-ही-कृपा है पर अब तक एक अभाव खटकता रहता था—मेरे घर में इन आठ भाइयों की कोई बहन नहीं थी। श्रेष्ठिनी सुनन्दा की हार्दिक कामना रहती थी कि इस अभाव की पूर्ति हो, भाइयों की राखी सूनी न बीते। नियति ने सुन ली और श्रेष्ठिनी की मनोकामना पूरी हुई।

महाराज ने विनोद किया—"पितामह-मातृमही होने की आयु में आपको पितृत्व-मातृत्व की बधाई हो।"

चारों ओर एक कोमल हास छा गया जो धीरे-धीरे विलीन होने लगा। ऋषभसेन ने तनिक संकोच के साथ इस हास में योग दिया, किन्तु सुनन्दा लज्जानुभव के साथ दोहरी हो गयी। उसके गौर मुख पर अरुणिमा छा गयी। कुछ पलों तक तो वह किसी की ओर भी निहार नहीं सकी। इसी समय चार परिचारिकाओं ने आकर उसकी गोद में शिशु को लिटा दिया। वात्सल्य भाव के अधीन सेठानी सुनन्दा का हाथ पुत्री के शीष को कोमल स्पर्श से सहलाने लगा। उसके मन का अतुलित हर्ष व्यक्त होने लगा। उसके नेत्र चमक उठे और होठों पर मधुर मुस्कान थिरकने लगी। इसी समय श्रेष्ठी ऋषभसेन ने अपनी बात आगे बढ़ायी। बोला—"कन्या के सुखमय जीवन के लिए आशीष मिल सके—इसी प्रयोजन से आप सभी श्रीमानों को कष्ट दिया है। कृपया हमें कृतार्थ करें।"

तब माता सुनन्दा कोमलता के साथ अपने आसन से उठी अपने दोनों हाथों पर कन्या को लिए हुए वह महाराज के समक्ष उपस्थित होकर नत-मस्तक खड़ी रह गयी। महाराज ने प्रसन्न मुद्रा के साथ नन्हीं कन्या के सिर पर हाथ फिराया, आशीष दी और अपने कंठ मे मोतियों की छोटी माला निकालकर उसके गले को सजा दिया। बिटिया को अपनी गोद में लेकर उसका भाल चूमा और उसके नाक-नक्शा को वे ध्यानपूर्वक देखने लगे। इसी प्रकार देखते हुए उन्होंने उसे माता की ओर बढ़ा दिया। माँ तो निहाल हो चुकी थी। कृतकृत्य भाव से उसने कन्या को ग्रहण किया, झुककर महाराज

का पुनः नमन किया और धीमे-धीमे चरणों से बढ़ती हुई पति के पास आ खड़ी हुई। ऋषभसेन ने पुत्री को अपनी गोद में लिया और पति-पत्नी दोनों प्रांगण के मध्य खड़े हो गये। उपस्थित स्नेहीजनों ने नन्ही बिटिया को आशीर्वाद दिये। तीनों ओर से आशीर्वचनों के साथ पुष्प वर्षा होने लगी। श्रेष्ठी दम्पति अपनी सतति के प्रति शुभकामनाएँ पाकर धन्य हो उठे।

माँ ने बिटिया को गोद में लेकर एकबारगी स्नेहावेश में उसे वक्ष से लगा लिया और भवन की ओर बढ़ गयी। श्रेष्ठी ऋषभसेन नरेश के समीप पहुँचा। प्रांगण से धीमा कोलाहल उठने लगा। उस मृदुल ध्वनि के मध्य श्रेष्ठिनी सुनन्दा ने सुना अपने पति का कुछ दूरी से आता हुआ स्वर—"हमने बिटिया का नाम तरंगवती रखा है। यह नाम रखने का भी एक विशेष प्रयोजन रहा है···" सुनन्दा सीढ़ियाँ चढ़ती हुई मुड़कर नीचे देखने लगी। देखा, ऋषभसेन यमुना के विशाल चित्र में अंकित तरंगों की ओर संकेत कर कुछ कहना चाहता है। सुनन्दा एक-एक सीढ़ी पार करती अपने कक्ष में पहुँच गयी। बन्द गवाक्षों से भी समारोह-स्थल की अस्पष्ट ध्वनियाँ आ रही थीं।

थकित-श्रमित सुनन्दा की साँस फूल गयी थी। शिशु को लिटाकर शैया पर वह भी उसके समीप ही लेट गयी। उसे यह विश्राम बड़ा सुखद लगा। उसके हृदय का सारा स्नेह उमड़ आया। उसने इसी आवेश में बिटिया को अपनी ओर खींच लिया और उसे बार-बार चूमने लगी। माँ का यह निर्मल प्यार पाकर अबोध बालिका भी मानो आनन्दित हो उठी। गहरी नींद में भी उसके होठों पर एक क्षण के लिए हँसी खिल उठी।

अब भी श्रेष्ठिनी सुनन्दा के कानों में पति के ये शब्द गूँज रहे थे कि "हमने बिटिया का नाम तरंगवती रखा है···यह नाम रखने का भी एक विशेष प्रयोजन रहा है···"। और उसकी कल्पना के नेत्रों के समक्ष विगत एक चलचित्र की भाँति गुजरने लगा। उसे स्मरण हो आया किस प्रकार उसके आठों पुत्र और चारों पुत्र-वधुएँ उसका सदा आदर-सम्मान करते रहते थे, प्रत्येक बात में उसकी भावना को वे सर्वोपरि मान देते। उसे अपने किसी भी परिजन के प्रति कोई शिकायत नहीं। उससे भी किसी सदस्य को कोई शिकायत नहीं। पति के प्रेम में असीमता और निर्मलता। सब कोई उसका ध्यान रखते, किसी भी दिशा से तनिक भी उपेक्षा नहीं। कहीं से भी कोई अभाव या त्रास नहीं। अपार वैभव, अटूट सुख, आमोद-प्रमोद—सब कुछ सुलभ;

फिर भी एक टीस उसके मन में सदा बनी रहती थी। सभी सुख किसी को सुलभ नहीं होते, पीड़ा का कोई प्रसंग तो सर्वथा सुखीजनों के जीवन में भी बना ही रहता है।

पुत्रवती माता सुनन्दा की अतृप्त कामना रहा करती थी कि उसे एक पुत्री की प्राप्ति हो। अभी वर्ष भर पूर्व यही दशा थी। पति ऋषभसेन प्रतिबोध देता—पुत्र व पुत्री में अन्तर क्या है? पुत्री कौन सी सदा ही माता-पिता के साथ बनी रहती है। तुम्हारे इतने सुन्दर, सुशील, सुयोग्य पुत्र हैं, वधुएँ हैं और पौत्र-पौत्रियों का मुख देखने के भी सुयोग हैं। सन्तति-प्राप्ति की दृष्टि से अपना सौभाग्य तुम किसी से कम क्यों आँकती हो? आदि-आदि बातें करता। पति का प्रयत्न पत्नी की पीड़ा को भुलावे में डालने का रहता था, किन्तु कसक इतनी गहरी थी कि उस तक कोई उपचार पहुँच ही नहीं पाता था। सबके संग तो वह फिर भी कुछ हँसी-खुशी का आवरण ओढ़ लेती थी, किन्तु जब एकान्त होता तो उसकी मूक पीड़ा उसे कष्टित करती रहती। जब पति का संग होता तो उसकी वही पीड़ा मुखर हो उठती। पति के तर्कों के उत्तर में वह कहती पुत्रों के होते हुए भी मेरा जीवन अभी अपूर्ण है। माँ पुत्री के रूप में ही अपनी प्रतिमूर्ति का दर्शन कर पाती है। पुत्र—पुत्र के स्थान पर हैं, पुत्री की महत्ता का अपना ही स्थान है। पुत्र-पुत्री के समान होने से भी क्या होता है? दोनों अपने-अपने ढंग से ही माता-पिता के जीवन को धन्य करते हैं?

पति के सारे प्रबोधन प्रयत्न के अन्त में प्रायः यही प्रतिक्रिया पत्नी द्वारा होती—"नहीं·····नहीं·····नहीं·····मुझे एक पुत्री चाहिए। इसी में मेरा सन्तोष, मेरे जीवन की सफलता है।" निराशा के साथ यह बात करते-करते सहसा उसके नेत्रों में कान्ति और स्वर में उत्साह उमड़ आता। वह पति के समीप सटकर अनुनय के साथ कहती—आपकी मित्रता तो अच्छे-अच्छे ज्योतिषियों से, निपुण नैमित्तिकों से है। उनसे पूछ देखिये ना! उनका क्या कहना है? क्या वे कोई उपाय नहीं कर सकते? मेरा मन कहता है मुझे एक बेटी अवश्य मिलेगी। क्या ये नैमित्तिक कोई राह नहीं सुझा सकते?

पत्नी के इस निरीह उत्साह को ऋषभसेन भला कैसे बुझा सकता था। वह भी अपना स्वर सोत्साह करते हुए कहता—"राह सुझा क्यों नहीं सकते? उनकी बड़ी भारी समर्थता रहती है सुनन्दा!" और सुनन्दा प्रफुल्ल

हो उठती। कई-कई दिन तक वह सर्वथा उमंगित रहती। पति से वह अनुरोध करती कि वह किसी नैमित्तिक से परामर्श करें।

शाम ढले ही सुनन्दा गवाक्ष में बैठ गयी और पति के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। यह प्रतीक्षा उसके लिए उत्पीड़क थी। बढ़ते-बढ़ते अँधेरा बहुत घना हो गया। कक्ष में उसने दीप भी प्रज्वलित नहीं किया। संध्या समय नरेश उदयन की अन्तरंग गोष्ठी कुछ लम्बी ही खिंच गयी। वहाँ से विदा होकर घर लौटने में नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन को काफी विलम्ब हो गया और सुनन्दा प्रतीक्षा-मग्न बैठी ही रही। उदास और निराश, खिन्न बुझी-बुझी बैठी थी सुनन्दा कि उसे सहसा पति का स्वर सुनायी दिया—"श्रेष्ठिनी सुनन्दा! क्या बात है? अंधेरे में अकेली क्यों बैठी हो? दीपक भी क्यों? क्या हुआ? आज तुम दुखी क्यों हो?"

"क्यों प्रश्न करते हो? क्या जानना चाहते हो? आपसे छिपा क्या है? मैं क्यों दुःखी हूँ आप सब जानते हैं? कभी आपको चिन्ता भी हुई है—मेरा दुःख दूर करने की? पूछा किसी से कोई उपाय?"

"यदि यही कारण है सुनन्दा तो....." ऋषभसेन एक क्षण के विराम के पश्चात् बोला—"तो अब तुम्हारे सारे क्लेश कट ही गये समझो।"

"वो....वो कैसे? क्या सचमुच ही?" मारे खुशी के सुनन्दा विस्तार से कुछ पूछ नहीं पायी। उसे लगा जैसे दीपक के बिना ही प्रकाश हो गया हो। ऋषभसेन ने शान्ति के साथ समझाया—'सुनो प्रिये, पंडितों ने कहा है कि तुम्हारी कुक्षी से एक पुत्री के जन्म का योग है, किन्तु कुछ बाधक परिस्थितियाँ भी बनी हुई हैं।" इतना कहकर ऋषभसेन ने एक सेविका को पुकारा। वह दीपक जला गयी। "सुनन्दा, अब निराशा का अँधेरा दूर हो गया"—ऋषभसेन ने बात को आगे बढ़ाया—"इन बाधाओं को परास्त कर कामनाओं को सफल बनाने के लिए हमें एक उपाय करना होगा सुनन्दा "एक उपाय करना होगा। तुम्हें पुत्री अवश्य मिलेगी, किन्तु इसके लिए आयंबिल तप करना होगा। इस तप द्वारा यमुना मैया की उपासना कर उसे प्रसन्न करना होगा। बीस बिस्वा सफलता का योग है।"

सुनन्दा शैया पर लेटी सोचती जा रही थी, कल्पना से ये दृश्य देखती जा रही थी। सहसा बिटिया की नींद उचटने लगी, वह कुछ कुनमुना कर हाथ-पैर मारने लगी। माँ ने प्यार से सिर पर हाथ फिराया, चुमकारा और पीठ पर हौले-हौले थपकी देने लगी। प्यार पाकर बिटिया

मानों आश्वस्त हो गयी। अचंचल""शान्त""सी हो गयी वह। और चलचित्र आगे बढ़ा। उसे स्मरण हो आया कैसे पति-पत्नी दोनों ने आयंबिल तप करने का निश्चय किया। भवन के पिछवाड़े का उद्यान का शान्तकान्त स्थल तप हेतु चुना गया। तप सम्बन्धी विविध धर्मक्रियाएँ सम्पन्न होती रहीं। दोनों के मन में तप की सिद्धि के प्रति अटूट आस्था थी। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता, उनका यह विश्वास दृढ़तर होता जाता। यमुना मैया की आराधना सच्चे मन से, पूर्ण लगन से होती रही। उनके मन में अपूर्व शान्ति और स्थिरता का वास हो गया। दिन भर यमुना मैया की उपासना रहती। रात्रि को दोनों अपनी-अपनी चटाइयों पर भक्तिभावना सहित शयन करते। यह, वह शान्त समय होता जब दोनों एक-दूसरे की भावना से अनभिज्ञ अपने-अपने विचारों में खोये रहते। स्वयं ही कहते रहते और स्वयं ही सुनते रहते। विचारों का यही क्रम चित्रात्मक और सघन होकर स्वप्नाकार ग्रहण कर लेता।

तप के अन्तिम दिन की बात है। रात्रि को जब सुनन्दा विश्राम हेतु चटाई पर लेटी तो उसे अनेकानेक विचारों ने आ घेरा। धर्म और भक्ति भावना के इन विचारों से उसे आनन्दानुभूति होती रही। पिछली रात्रि में ही उसकी आँख लगी। तभी उसने एक सुखद स्वप्न देखा। यमुना का श्याम, शीतल जल उसके आस-पास चारों ओर भर गया। वह तरंगों के मध्य हिलोरें लेने लगी। सुनन्दा ने तभी देखा की उस अपार जल राशि के मध्य से एक सुवर्ण सिंहासन उठकर ऊपर आया। उस पर आशीर्वाद मुद्रा में हाथ उठाये स्वयं यमुना मैया आसीन थीं। गद्गद् श्रेष्ठिनी सुनन्दा आनन्द के मारे अधीर और चंचल हो उठी। वह मैया के समक्ष हाथ जोड़े शीष झुकाए खड़ी रह गयी। यमुना मैया ने आशीर्वाद दिया—"मैं तेरी भक्ति भावना और तपश्चर्या से प्रसन्न हूँ। तेरे घर शीघ्र ही एक गुणवती कन्या का आगमन होगा। तेरा तप सफल हुआ।" सुनन्दा की प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहा। कृतज्ञ भाव के साथ वह मैया के चरणों में झुक गयी। इसी समय सहसा सुनन्दा की निद्रा टूटी। स्वप्न की माया लुप्त हो गयी। वह तो अपनी चटाई पर मूक-शान्त लेटी थी। उसके मन में भारी उथल-पुथल मच गई।

जिज्ञासावश सुनन्दा ने पति को जगाया। स्वप्न का सारा वृत्तान्त सुना कर उसने ऋषभसेन से जानना चाहा कि इस स्वप्न का अर्थ क्या है?

धैर्य से, दत्तचित्त होकर ऋषभसेन स्वप्न-कथा सुनता रहा। प्रश्न किये जाने पर भी कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् ही उसकी वाणी मुखरित हो पायी। गम्भीर स्वर में सेठ ऋषभसेन ने उत्तर दिया—"प्रिये! तुम्हारा यह स्वप्न पिछली रजनी का है, अतः यह सत्य घटित होकर ही रहेगा। यमुना मैया वास्तव में तुम्हारे तप और भक्ति से प्रसन्न हैं, वे तुम पर कृपालु हो गयी हैं। उनकी आशीष तुम्हारी मनोकामना को अवश्य ही सफल करेगी इसमें राई भर भी संदेह नहीं किया जा सकता। अब तुम प्रसन्न हो जाओ प्रिये" तुम्हारी कामना शीघ्र पूर्ण होगी।"

कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त ऋषभसेन ने प्रिया के मन के गहन सन्तोष को ताड़कर कहा—"सुनो सुनन्दा! तुम्हारे स्वप्न को जान-समझकर मैंने निश्चय किया है कि हम अपनी कन्या का नाम 'तरंगवती' ही रखेंगे। तुमने कन्या-जन्म के पूर्व स्वप्न में यमुना की तरंगों का ही तो दर्शन किया। यह नाम उपयुक्त रहेगा न प्रिये!"

"उपयुक्त! सर्वथा उपयुक्त रहेगा। हमारी कन्या ने आगमन से पूर्व ही हमारे हृदयों को हर्ष की तरंगों से भर दिया है। 'तरंगवती' नाम उसके लिए सर्वाधिक सार्थक है। आपने बिलकुल सत्य ही सोचा है। हम यही नाम रखेंगे हमारी होने वाली बिटिया का। वह हमारे घर-परिवार को सुख-समृद्धि की तरंगों से भर देगी। मेरी तरंगवती ..." कहकर भाव-विभोर सुनन्दा आकाश की ओर ताकने लगी। इन घटनाओं की पुनर्स्मृति करते हुए, माता को कब नींद आ गयी स्वयं उसे भी इसका ज्ञान नहीं रहा। माता का स्नेहाश्रय पाकर निश्चिन्त बिटिया भी गहरी नींद में सोयी थी।

५

यमुना मैया के आशीर्वाद से तरंगवती की प्राप्ति पर सारा परिवार प्रसन्न था। आठ भाइयों की बहन तरंग के लिए सर्वत्र स्नेह उमड़ पड़ता था। वह हाथों-हाथ रहा करती। भैया-भाभी उससे अतिशय प्रेम करते। एक की इच्छा उसे गोद से उतारने की नहीं होती कि दूसरा उसे उठाने को आकुल हो उठता। समस्त सार-संभाल और सुख-सुविधा के वातावरण में, प्रेमाधिक्य से घिरी तरंग का उचित रीति से पालन-पोषण होने लगा।

तरंगवती क्रमशः आयु प्राप्त कर ज्यों-ज्यों बड़ी होने लगी—उसकी विशेषताएँ उजागर होने लगीं। तरंग को बहुत छुटपन से ही एक विशेष कला में प्रगाढ़ रुचि थी। यों थोड़ी समझ आने पर कोयला, कंकर जो हाथ आ जाता उससे वह भूमि पर आड़ी तिरछी रेखाएँ खींचा करती और स्वतः कोई आकृति बन जाती। इसी प्रवृत्ति ने प्रबलता ग्रहण की और उसे चित्रकला में गहन अभिरुचि हो गयी। उसे प्रेरित और प्रोत्साहित भी किया जाने लगा। अल्पायु में ही वह चित्रकला के क्षेत्र में अपनी अच्छी क्षमता का प्रदर्शन करने लगी। उचित शिक्षण-प्रशिक्षण ने उसकी प्रतिभा को निखरने की उपयुक्त सुविधा दी। साधन पाकर उसकी कला-साधना सिद्धि के समीप पहुँचने लगी। तरंग अपने मनोभावों को भलीभाँति रंग-तूलिका के माध्यम से चित्रपट पर उतार देती थी। ऐतिहासिक-पौराणिक प्रसंगों का अंकन भी वह बड़ी ही प्रभावपूर्णता के साथ कर दिया करती। कथाओं का चित्रांकन करने का भी उसने अच्छा अभ्यास प्राप्त कर लिया था। उसके चित्रों में मानों सजीवता रहती थी, लगता था—जैसे अभी बोल ही पड़ेंगे। पशु-पक्षियों और प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण भी वह बड़ी सुन्दरता के साथ कर दिया करती थी। उसके चित्रों को देखकर उसकी कला की प्रशंसा किये बिना कोई भी नहीं रह पाता।

तरंगवती व्यवस्थित रूप से शिक्षा भी ग्रहण कर रही थी। चित्र कला, नृत्य, संगीत, पाक कला, अन्य गृह कलाओं का प्रशिक्षण उसे घर पर मिला करता था। विद्याभ्यास के लिए वह पाठशाला जाया करती थी। नगर के समीप शान्त वातावरण में स्थित यह पाठशाला ख्यातनाम रही थी। कौशाम्बी के अनेक राष्ट्रीय महत्व के दिग्गज जनों ने अपनी आरम्भिक शिक्षा इसी पाठशाला में ग्रहण की थी। संभ्रान्त परिवारों के बच्चे यहीं शिक्षित होते थे। रमणीक उद्यान में स्थित यह पाठशाला स्वयं भी बड़ी सुन्दर लगती थी। नगर से बाहर निकलकर एक सुन्दर जलाशय के किनारे-किनारे चलकर पाठशाला तक पहुँचने का मार्ग था। यहाँ छात्र-छात्राओं के शिक्षण की सम्मिलित व्यवस्था थी। शालीन और गरिमापूर्ण व्यवहार यहाँ के विद्यार्थियों की विशेषता थी। उनका पारस्परिक व्यवहार भी सौहार्दपूर्ण बना रहता था।

कौशाम्बी के धनाढ्य सार्थवाह धनदेव का अतिशय प्रिय और एक-मात्र पुत्र पद्मदेव भी इस पाठशाला में अध्ययन करता था। आयु में वह तरंगवती से कुछ बड़ा ही था और उससे आगे की कक्षा में पढ़ता था, किन्तु तरंग और पद्मदेव के बीच एक समीपता स्थापित होने लगी। इसका मूल आधार यह था कि दोनों ही जन्मजात कलाकार थे। दोनों में दैवी प्रतिभा थी। तरंगवती चित्रकार थी तो पद्मदेव एक कुशल कवि था। उसकी छन्द रचना में अद्भुत गति थी और अपनी आयु की अपेक्षा अधिक कौशल उसने भी तरंग की ही भाँति अर्जित कर लिया था। अपने मनोभावों को सफलता और प्रभावपूर्णता के साथ काव्य में व्यक्त कर देने का उसे असाधारण कौशल प्राप्त था। दोनों ने अपने-अपने क्षेत्रों में अच्छा नाम कमाया।

तरंग और पद्मदेव दोनों की कलाओं के माध्यम भले ही भिन्न थे, किन्तु दोनों अभिव्यक्ति भावों की हो किया करते थे। पद्मदेव शब्दों के माध्यम से सरस अस्तित्व प्रदान कर देता था तो तरंगवती उसको प्रत्यक्ष आकृति दे देती थी—चित्रकला के माध्यम से। एक के द्वारा कविता का और दूसरे के द्वारा चित्र का निर्माण होता था, किन्तु दोनों ही भावाभिव्यक्ति करते। कभी वे किसी एक ही भाव को आधार मानकर अपनी-अपनी कला प्रदर्शित करते। कभी ऐसा भी होता था कि पद्मदेव द्वारा रची गयी कविता के भावों पर तरंग चित्र तैयार करती अथवा तरंग की चित्रकृति के भावों को

पद्मदेव अपने काव्य में उतारता। इन कृतियों को एक साथ रखने पर दो कलाओं का अद्भुत संगम प्रतीत होने लगता। पद्मदेव और तरंग का सम्पर्क घनिष्ट होता चला गया। उनके मध्य एक निर्मल आकर्षण विकसित होता रहा। किशोरावस्था में थे अभी वे दोनों ही।

कहते-कहते साध्वीजी के स्वर में कुछ शैथिल्य पाकर राजगृह की श्रेष्ठिनी—सोमावती कुछ चंचल हो उठी और वह साध्वी जी के मुख को ओर निहारने लगी। हाथ के संकेत से तब उन्होंने श्रेष्ठिनी को सान्त्वना दी और कहा कि इस नयी कथा का मेरे जीवन से सम्बन्ध हो सकता है। तुम इसे ध्यान से सुनो। तनिक विराम के उपरान्त वक्ता और श्रोता दोनों कुछ सामान्य होने लगे। तरुणी साध्वी जी ने कथन पुनः आरम्भ किया—

पाठशाला के मार्ग में एक सुन्दर जलाशय का मैंने उल्लेख किया था। इसमें निर्मल जल भरा रहता था। तनिक से पवन प्रवाह से जल में असंख्य लहरें उठतीं, जो तट की ओर बढ़ती दिखायी देती थीं। सरोवर के मध्य में कमल पुष्पों का एक विशाल समूह था। भ्रमर मंडराते रहते थे। वातावरण भ्रमरों की गुंजार और कमल की सौरभ से मनमोहक बना रहता था। पाठशाला आते-जाते तरंग मुग्ध भाव से सरोवर की छटा को निहारती रहती। उसका कलाकार मन आनन्दित हो उठता। यह एक दृश्य ही उसके मन में अनेक चित्र-छवियाँ रूपायित कर दिया करता था। संध्या समय आकाश में जब सिन्दूरी संझा खिल उठती थी तब तो सरोवर की शोभा और भी अधिक चित्ताकर्षक हो जाती थी। पश्चिमी भाग का जल प्रति-च्छवि से सारा अरुणाभ हो उठता था। पाठशाला से लौटती तरंग यह छटा निहारती हुई आगे बढ़ती रहती। उसका मन वाह! वाह!! कर उठता, किन्तु उसके चरण कभी गतिहीन नहीं हुए।

पावस की वह साँझ ऐसी ढीठ निकली कि उसने तरंग के पैरों में मानों बन्धन डाल दिये। गगन बिहारी श्यामल मेघ भी स्थिर हो गये थे। रुके हुए मेघों की सुन्दर आकृति बड़ी ही लुभावनी थी। सरोवर के जल में मेघ की छाया और भी सुन्दर प्रतीत होती थी। तरंग के कलाकार मन को यह जल में मेघ की छाया ऐसी लगी, मानो कोई मस्त गजराज झील में जलक्रीड़ा कर रहा हो। कलाकार तरंग अपनी इस कल्पना से स्वयं ही रीझ उठी। वह मेघ की परछायी में गजराज के विभिन्न अवयवों की सार्थकता खोजने लगी। उसका सारा ध्यान सरोवर, उसके जल, जल में मेघ की

छाया आदि पर केन्द्रित हो गया। उसके मानस में कुछ अद्भुत उथल-पुथल मच गयी। इस हलचल का कारण उसे ज्ञात नहीं हो पाया, किन्तु उसे अपूर्व बेचैनी अनुभव होने लगी। गजराज की जल-क्रीड़ा की कल्पना मात्र से अब वह अन्तर में सिहर उठी। उसके मानस पर एक अद्भुत दबाव बनने लगा। सिर चकरा गया और उसकी आँखें बन्द हो गयीं। कुछ ही क्षणों के अन्तराल में वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

सखी सारसिका इस समय उसके साथ थी। वह एकदम से हक्की-बक्की रह गयी कि हो क्या गया है तरंग को। अचेत हो जाने का कोई कारण वह जान नहीं सकी। इस अप्रत्याशित घटना ने उसे व्याकुल कर दिया। आरम्भ में तो वह किंकर्तव्य-विमूढ़ सी बैठी रह गयी, पुस्तक हिलाकर हवा करती रही। बड़ी देर बाद उसे जल का ध्यान आया। वह अंजलि भर-भरकर सरोवर के जल के छींटे देने लगी। सखी ने देखा कि अचेत तरंग के मुख-मण्डल पर अनेक दुःखद भाव आते-जाते रहे। उसके मन की उद्विग्नता, अशान्ति, पीड़ा की झलक साफ दिखायी दी। जलोपचार से कुछ ही क्षणों में तरंग स्वस्थ होने लगी। उसने पलकें खोल दीं। वह कुछ भी जताने की स्थिति में नहीं था कि उसे हो क्या गया था। सखी के साथ धीमे-धीमे वह घर की ओर चल दी।

अब तरंग में यह एक स्थायी परिवर्तन हो गया। जब भी वह सरोवर को ध्यान से देखने लगती, वह अचेत हो जाती। आरम्भ में ऐसा कभी-कभी होता, फिर तो यह आये दिन का क्रम हो गया। पिता का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। उसने उत्तम उपचार करवाया, किन्तु कोई लाभ न हुआ। निदान ही सम्भव नहीं हुआ। उसके अचेत हो जाने का कोई शारीरिक कारण चिकित्सकों को ज्ञात न हो पाया। परिणामतः उसे मनोरोग से ग्रस्त माना जाने लगा। एक बात निश्चित थी कि सरोवर को देखकर उसे मूर्च्छा आ जाती थी। पाठशाला के मार्ग वाले सरोवर से यह बात प्रकट हुई—यह सत्य है, किन्तु मूर्च्छा के लिए किसी भी सरोवर को देखना मात्र पर्याप्त था। इस स्थिति से माता-पिता बड़े दुःखी हुए। उन्हें परामर्श दिया गया कि तरंग को अधिकतर घर में ही रखा जाय। सरोवर-दर्शन का अवसर ही न आने दिया जाय। वर्ष-दो-वर्ष में ही तरंग के कुछ और बड़ी हो जाने पर कदाचित् यह समस्या स्वतः ही निर्मूल हो जाय।

ऐसा ही निर्णय लिया गया। तरंगवती को सरोवरों के समीप नहीं

जाने दिया जाता। उसका पाठशाला में नियमित अध्ययन भी रुक गया। विद्वान गुरुजनों के सान्निध्य में वह घर पर ही अनेक विषयों का अध्ययन करने लगी। उसकी कुशाग्र बुद्धि और तीव्र प्रतिभा ने तब भी अपना परिचय दिया। वह विभिन्न विद्याओं और कलाओं के क्षेत्र में प्रगति करने लगी। चित्रकला का अभ्यास बढ़ने लगा। उसकी भाव-प्रवणता और कल्पनाशीलता उसको कला के इस क्षेत्र में अधिकाधिक सफलता प्रदान करती जा रही थी। तरंग के चित्र बहुत प्रशंसित होने लगे थे।

ज्ञान और कला के साथ-साथ तरंग रूप और शील में भी अब पर्याप्त विकसित हो गयी थी। गृह कलाओं में दक्ष, संगीत-नृत्यादि में निपुण तरंग पर अपने अभिभावकों की धर्मशीलता का पर्याप्त प्रभाव था। जीवन के अपने आरम्भिक चरण में ही वह धर्मप्रिय हो गयी थी। अहिंसा उसके लिए चर्चा-विवेचन का, कथन-श्रवण का एक सुन्दर विषय ही नहीं, आचरण की वस्तु थी। मनसा-वाचा-कर्मणा वह किसी जीव के लिए पीड़ा का कारण नहीं बनती थी। वह किसी अन्य को भी ऐसे कर्म के लिए प्रेरित नहीं करती थी, न ही किसी के ऐसे कर्म का अनुमोदन करती। जीव-दया उसके आचरण का एक अभिन्न अंग था। उसे कभी भी अपने विचारों और दृष्टिकोण के प्रति दुराग्रह नहीं था। अन्य विचारों का समादर करना, उनमें भी औचित्य की सम्भावना को स्वीकारना—उसकी प्रवृत्ति हो गयी थी। अनेकान्त की इस साधना ने उसे बहुजनप्रिय और मृदुल बना दिया। इसका यह परिणाम भी होने लगा कि उसकी मान्यताओं, धारणाओं को व्यापक अनुमोदन मिलने लगा। उसकी वाणी में विशेष प्रभाव निर्मित हो गया। व्रत-उपवास, तप-त्याग में अग्रणी तरंग की उपस्थिति ने नगर श्रेष्ठी के पारिवारिक वातावरण को एक आभा और पावनता से सम्पन्न कर दिया। परिवार के दास-दासियों का भी उसने मन जीत रखा था। उनसे उसने कभी कटु-अप्रिय व्यवहार नहीं किया। अनादर करने की प्रवृत्ति तो उसके मन में कभी अंकुरित ही नहीं हो पायी। सदाशयता की प्रतिमूर्ति, सहानुभूति की साक्षात् अवतार तरंग की धर्मपरायणता की ख्याति श्रेष्ठी-परिवारों में व्याप्त हो गयी थी। अभिभावकगण अपनी कन्याओं के लिए उसे आदर्श मानते थे। सर्वगुणसम्पन्ना तरंग अब लोकप्रिय हो गयी थी।

लता पर लौकी और घर में कन्या के बड़े हो जाने पर उसे पृथक करने की ओर ध्यान जाने लगता है। कन्या के विवाह योग्य हो जाने पर

माता का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है, किन्तु पिता इसके पूर्व ही योग्य वर की खोज में लग जाता है—चाहे ऐसा ऊपर से आभास न भी हो। नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन आठों याम इसी चिन्तन में रहते कि बिटिया के योग्य वर कैसा हो। यों कौशाम्बी श्रेष्ठियों का नगर है और ऋषभसेन श्रेष्ठियों में शिरोमणि थे। ऐसे में उनका सभी से अवगत होना अत्यन्त स्वाभाविक बात थी। युवा श्रेष्ठियों और श्रेष्ठी-पुत्रों के सम्बन्ध में नगर-श्रेष्ठी सभी दृष्टियों से विचार करते तो पाते किसी में एक तो किसी में अन्य प्रकार का अभाव या दूषण है। उन्होंने तरंग के योग्य वर के विषय में जो स्वप्न संजो रखा था, उस कसौटी पर कोई सौ टंच खरा नहीं उतरता था। ऋषभसेन तो चाहते थे कि उनकी प्यारी-प्यारी सी बिटिया राज करे" राज। उसका पति रूपवान, शक्तिमान, श्रीसम्पन्न और प्रवीण हो, कुशल व्यवसायी हो। वे जानते थे कि तरंग धर्मानुरागिणी है, वर में भी ये लक्षण हों।

माता सुनन्दा अपनी समझ में सर्वथा उपयुक्त किसी वर की चर्चा चलाती तो नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन उसमें कोई न कोई कोर-कसर निकाल देते। इस प्रकार बात टल जाती। पिता की इस प्रवृत्ति ने माता की चिन्ता को और अधिक बढ़ा दिया था। पिता यह नहीं चाहते थे कि तरंग का विवाह किसी सार्थवाह के परिवार में हो। सार्थवाहजन होते तो धनाढ्य हैं किन्तु विदेश-व्यापार के कारण वे प्रायः वर्ष भर ही लम्बी-लम्बी अवधियों के लिए यात्रा पर रहते हैं। ऋषभसेन तरंग के ऐसे एकाकी जीवन के अभिलाषी कैसे हो सकते थे? यों तरंग के लिए योग्य वर की खोज कौशाम्बी से बाहर भी अनेक क्षेत्रों में चल रही थी। ऋषभसेन ने चतुर चरों को इस हेतु भेज रखा था। मगध, मालव, कोसल—सर्वत्र खोज चल रही थी।

× × ×

हरि काका आज भी नित्य की भाँति पुष्पहार, पुष्प-गुच्छों के टोकरे के साथ श्रेष्ठी भवन पहुँचा। हरि काका ऋषभसेन का बागबान था जो श्रेष्ठी की वाटिका पद्मवन की देखभाल करता था। पद्मवन नगर से कुछ दूर सुरम्य, प्राकृतिक वातावरण में स्थित बहुत सुन्दर उद्यान था। नन्दन कानन सा शोभित यह उद्यान सदा ही प्रशंसनीय रहा—नगर के नाना वर्गों के लोग भ्रमण के लिए यहाँ आते, दिन भर आमोद-प्रमोद,

विश्राम करते, भोजनादि का आनन्द लेते और नगरीय वातावरण से मुक्ति का अनुभव करते और एक खास ताजगी के साथ लौटते। इस उद्यान में भी एक सुन्दर सरोवर था। सरोवर में कमल-समूह की शोभा थी। कदाचित इसी कारण यह वाटिका पद्मवन कहलाती थी। इस उद्यान के ही भाँति-भाँति के पुष्प लेकर हरि काका प्रत्येक भोर में श्रेष्ठी की सेवा में उपस्थित होता था।

आज कई दिनों बाद हरि काका के टोकरे में सप्तपर्णी फूल दिखायी दिये। इन फूलों को देखकर ऋषभसेन को बड़ा आश्चर्य हुआ। सप्तपर्णी फूल कच्चे दूध से शुभ्र श्वेत वर्ण के अत्यन्त सुन्दर, बड़े आकार के होते हैं। पद्मवन के ये फूल तो कुछ और भी बड़े-बड़े थे। पर आश्चर्य का कारण यह नहीं था। आश्चर्य तो इस बात से था कि श्वेत सप्तपर्णी फूलों के साथ दो-तीन फूल ऐसे थे जो वर्ण में पीताभ थे। सप्तपर्णी केवल श्वेत होते हैं—ये पीले क्योंकर हैं।

ऋषभसेन ने इस परिवर्तन के रहस्य का कुछ अनुमान लगाया भी था। उसे ज्ञात था कि बिटिया तरंगवती को वनस्पति विज्ञान का बहुत अच्छा ज्ञान है। पिता ने अपनी विदुषी पुत्री को बुलवाया। तरंग ने आकर पिता की चरण वन्दना की और मुस्कुराती हुई नम्रता के साथ एक ओर खड़ी हो गयी। उसने हरि काका को भी नमस्कार किया और कुशल क्षेम पूछी। पिता का आशीर्वचन उसे मिला। हरि काका ने अपनी मीठी ग्रामीण वाणी में असीस दी। ऋषभसेन ने एक बड़ा सा श्वेत फूल तरंग को थमाते हुए पूछा—"बताओ बेटी, यह कौन सा फूल है?"

तरंग ने निश्चिन्ततापूर्वक उत्तर दिया—"पिताजी, यह तो सप्तपर्णी है, क्यों? क्या हुआ?"

हुआ कुछ भी नहीं, यह बताओ कि यह सप्तपर्णी किन-किन रंगों में मिलता है?

अपने होठों पर तनिक हास बिखेरते हुए पुत्री ने तब कहा—"पिताजी! आज आप क्या कह रहे हैं? सप्तपर्णी भला किसी और रंग में भी मिल सकता है? केवल सफेद रंग ही होता है इनका।"

"फिर एक बार सोच लो बेटी,"—पिता ने गम्भीरता ओढ़ते हुए कहा—"यह देखो एक रंग तो मैं अभी ही तुम्हें और दिखाता हूँ—यह पीला

फूल देखो।" पिता ने पीला फूल थमाते हुए तरंग से प्रश्न किया—"क्या यह सप्तपर्णी नहीं ?"

ध्यानपूर्वक इस पीताभ पुष्प को देखते हुए तरंग ने उत्तर में कहा—"नहीं""फूल तो यह सप्तपर्णी ही है किन्तु ।" सोच-विचार के क्रम में उसकी वाणी अवरुद्ध हो गयी। आश्चर्य उसे भी हो रहा था कि फूल पीला कैसे हो गया। उसे ध्यान था कि पद्मवन उद्यान में सप्तपर्णी का वृक्ष भी एक ही है। श्वेत पुष्प इस पर सदा ही आते रहे हैं—आज भी श्वेत फूल लेकर हरि काका आए ही हैं। फिर ये पीला पुष्प कैसा! है तो यह भी उसी वृक्ष का। पुष्प की पंखुरियों के पिछले भागों को देखा और पाया कि वे भाग तो सफेद ही हैं। उसके चतुर मस्तिष्क ने यह तथ्य पा लिया कि फूल यह भी श्वेत ही है। किसी कारण से इसका ऊपरी भाग पीला हो गया है। कुछ गम्भीरता से तरंग ने प्रश्न पर विचार किया। उसकी सारी चेतना एकाग्र हो गयी थी। उसे लगा कि वह रहस्य के समीप होती जा रही है। सहसा वह सोत्साह बोल उठी—"फूल तो यह भी श्वेत ही है, किन्तु यह पीला हो गया है। वृक्ष की इन शाखाओं से यह फूल तोड़ा गया है जो हमारे सरोवर की ओर बढ़ी हुई हैं। इन शाखाओं पर भी श्वेत फूल खिलते हैं पर कमल पुष्पों पर से उड़कर भ्रमर इन फूलों पर आ बैठते हैं। भ्रमरों के पंखों पर कमल के पराग-कण चिपक जाते हैंजो सप्तपर्णी श्वेत फूलों की पंखुरियों पर बिखरते जाते हैं। निरन्तर यह क्रम रहने से फूल पीताभ हो गये हैं।"

पिता ने पुत्री की वाणी में अपनी धारणा का अनुमोदन पाया। पिता ने भी यही कारण अनुमानित किया था और यही यथार्थ था। हरि काका तो सहसा बोल उठे थे—"हमारी बिटिया जानत है, सबै कछु जानत है।" पिता को अपनी पुत्री की विद्वत्ता पर गर्व था, उसका साधुवाद करते हुए ऋषभसेन का वक्ष गर्व से फूल उठा। अपनी सफलता पर तरंग को सन्तोष अनुभव होने लगा। माता सुनन्दा भी वहाँ आ पहुँची थी। बेटी की चतुराई से वह भी बड़ी प्रभावित हुई। उसे गले लगाकर वात्सल्य के अतिरेक में उसने उसका भाल चूम लिया। इसी समय ऋषभसेन ने वाचिक रूप में तरंग की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की और यह भी कहा कि "बिरली कन्याओं को ही ऐसी प्रतिभा प्राप्त होती है। हमारी बिटिया यशस्विनी होगी ...।"

होगी क्यों नहीं····आखिर पुत्री किसकी है !—माता ने इस शब्दों के साथ पुत्री को अंक में भर लिया। दोनों के नेत्रों में अद्भुत चमक थी जिसमें उनका आत्म-गौरव छलछला आया था। ऋषभसेन कभी पुत्री को देखता तो कभी पत्नी को। उसका मन भी सन्तोष-सागर में लहरें ले रहा था। जब-जब नगर-श्रेष्ठी को अपनी तरंग की योग्यता और प्रतिभा पर गर्वानुभव होने लगता था—तुरन्त ही वह उसके भविष्य को लेकर चिन्तित भी हो जाया करता था। आज भी वह शान्त और गम्भीर हो उठा। अपने परिवर्तन को तरंग से छिपाने के लिए वह एक ओर मुख मोड़कर उठ खड़ा हुआ और चल दिया।

६

कौशाम्बी के मुख्य द्वार से एक के बाद एक कर अनेक रथ निकलकर सूने पथ पर दौड़ते आगे बढ़ने लगे। रथ के द्वारों पर पड़ी यवनिकाओं से ज्ञात होता था कि इनमें महिलाएँ आरूढ़ हैं। नगर से बाहर के उन्मुक्त वातावरण में दौड़ते अश्व शीतल, मन्द पवन पाकर स्फूर्त हो उठे थे। सारा मार्ग महिलाओं के कहकहों, हर्षध्वनियों से गूंज उठा था। कुछ ही समय में रथों का यह लम्बा काफिला पद्मवन में पहुँच गया। एक-एक कर रथों से रेशमी-जालीदार यवनिकाएँ ऊपर उठने लगीं और स्त्रियाँ, कन्याएँ बाहर उतरने लगीं। उद्यान के इस खुले वातावरण को पाकर इनके मन प्रफुल्ल हो उठे। एक अजीब ताजगी से उनका मन भर उठा।

सप्तपर्णी पुष्प की उस आश्चर्यजनक घटना के पश्चात तरंग की माता सुनन्दा के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी फूल पीले कैसे हो जाते हैं, वह स्वयं देखना चाहती थी। एक ही वृक्ष पर सफेद फूलों के मध्य खिले ये फूल कैसे दिखायी देते होंगे! सुनन्दा प्रत्यक्षतः देख लेना चाहती थी। सुनन्दा ने पति ऋषभसेन के समक्ष अपनी अभिलाषा व्यक्त की और तुरन्त सारी व्यवस्थाएँ हो गयीं। उद्यान-विहार का कार्यक्रम बन गया। दिन भर के इस कार्यक्रम में सुनन्दा ने अपनी अनेक सखियों को सम्मिलित कर लिया। विभिन्न आयुवर्ग की महिलाएँ उद्यान में एकत्रित हो गयीं। प्रौढ़ा सासें थीं तो नवौढ़ा वधुएँ भी थीं, नवविवाहिता युवतियाँ थीं तो अविवाहित किशोरियाँ भी थीं। देखते ही देखते ये सभी सारे उद्यान में फैल गयीं। सुन्दर उद्यान और अधिक सुन्दर हो गया। रंग-बिरंगे वस्त्राभूषणों की आभा तो फैली ही, सुन्दरियों ने उद्यान की शोभा को अपने रूप से अभिवर्धित कर दिया। सारा उद्यान सजीव हो उठा था। हरि काका व्यवस्थाएँ करने में जुट गया।

यह प्रकृति का नियम है कि जब तक प्रतिबन्ध या दबाव की विवशता है, तभी तक विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ एक साथ रहती हैं। जब स्वाधीन विचरण का अवसर आ जाता है, विवशता व प्रतिबन्ध टूटता है तो समान प्रकार की वस्तुएँ एक साथ हो जाती हैं। अनाज में तुस मिला रहता किन्तु सूप मे जब फटका जाता है तो तुस-तुस आगे निकलकर एक साथ हो जाता है, दाने-दाने एक तरफ रह जाते हैं। पद्मवन में स्वाधीनता पाकर प्रौढ़ाओं, युवतियों, किशोरियों आदि के पृथक-पृथक दल बन गये। अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार ये मनोविनोद में लगी थीं। तरंग भी अपनी सखी सारसिका के संग आयी थी। किशोरियों के भी कुछ दल थे, किन्तु इन दो सखियों का अपना ही एक ग्रुप बन गया। दोनों एक-दूसरे से बतियाती सारे उपवन में विचरण करने लगीं।

तरंगवती का मनोरोग पिछले पर्याप्त समय से शान्त था। स्थिति यह थी कि कोई अवसर ही ऐसा नहीं आया था कि वह सरोवर पर गयी हो। अतः अब भी क्या अचेत हो जाने की दशा है—तरंग के विषय में ऐसा कुछ कहा नहीं जा सकता था। माता सुनन्दा ने आग्रह किया था कि बिटिया को कहीं बाहर निकलने का अवसर ही नहीं मिलता। आज वह भी हमारे साथ पद्मवन को जायगी, फिर सरोवर देखकर अचेत हो जाने की बात भी अब बहुत पुरानी हो गयी है। सम्भावना तो यही है कि तरंग पर अब ऐसा कोई प्रभाव शेष नहीं रहा होगा। ऋषभसेन ने पत्नी की बात में औचित्य पाया और तरंग को ले जाने की अनुमति दे दी। सोचा यह भी पता चल जायगा कि सरोवर देखने से अब तरंग पर क्या प्रभाव होता है।

किशोर वय आयु का बड़ा प्रमत्त भाग होता है जब व्यक्ति जागते स्वप्नों में खोया रहता है। जीवन की भावी सुखमयता, सरसता और सुन्दरता की कोमल कल्पना ही इस वय की पूंजी होती है। किशोरों की अपेक्षा भी किशोरियाँ इस दिशा में कुछ अधिक अधिक ही गतिशील रहा करती हैं। दोनों किशोरियाँ—तरंग और सारसिका पद्मवन के रमणीय उद्यान में इसी प्रकार अपनी-अपनी मनोरम कल्पनाओं से एक-दूसरे को आनन्दित और भाव-विभोर करती हुई विचरण कर रही थीं। उनके नेत्रों के समक्ष प्राकृतिक सौन्दर्य बिखरा पड़ा था, किन्तु उन्हें इस समय अपने भावी जीवन के रंग-बिरंगे दृश्य ही दिखायी दे रहे थे। होने को यों किशो-

रियों के भी कुछ दल विचरण कर ही रहे थे, किन्तु ये दोनों सखियाँ उन सभी से पृथक घूम रही थीं। भाँति-भाँति के अल्पाहार और पेयादि की व्यवस्था पद्मवन में पहले से कर दी गयी थी। दोपहर की भोज सामग्री की व्यवस्था भी नगर श्रेष्ठी ने इस प्रकार करवायी थी कि सारी सामग्री पक कर नगर से यथा-समय उद्यान में पहुँच जाय। अतः पद्मवन में इस समय विचरण और वार्तालाप का आनन्द लेने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रवृत्ति थी ही नहीं। अपने-अपने वर्ग के वक्ता-श्रोता हों तो —वार्तालाप का आनन्द ही कुछ और होता है, क्योंकि एक वर्ग किसी अन्य वर्ग को ही विषय बनाता है। सास वधू को तो वधू सास को अपनी चर्चा का विषय बनाती है और परायी हँसी तो गुड़ से भी मीठी हुआ करती है। यदि चर्चा किसी अनुपस्थित पड़ोसिन की चल पड़े तो बात और भी आनन्द-दायक हो जाती है। सुनन्दा भी इसी प्रकार अपनी समायु सखियों के साथ बातों का रस ले रही थी। ऐसी बातें सुनी जायँ तो कहने को जी करने लगता है, कही जायँ तो तुरन्त अन्य जनों से सुनने की लालसा बलवती हो जाती है। दोनों का अपना-अपना आनन्द है। कदाचित् नारी वर्ग के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई आनन्द है ही नहीं।

अपनी माता और अन्य जनों से दूर पद्मवन में तरंग सारसिका के सग इस एकाकी-शान्त स्थलों में घूम रहा थीं। चारों ओर भाँति-भाँति के सुन्दर पुष्प खिले थे। सघन कुंजों की शीतल छाँह का आनन्द ही और था। दोनों सखियाँ घूमती हुई सरोवर के तट पर दूर-दूर तक फैले सघन कुंजों में ही इस समय थीं कि सहसा एक विपत्ति आ गयी। किसी कुंज में मधुमक्खियों का छत्ता था। अनभिज्ञ तरंग उस कुंज में प्रवेश कर गयी। साधारण सी खड़-खड़ाहट से ही मधुमक्खियाँ कुपित हो उठीं और निरीह तरंग पर वे टूट पड़ीं। सयोग ही कुछ ऐसा था कि इन क्षणों में वह अकेली रह गयी थी। सारसिका को किसी अन्य सखी ने बातों में लगा लिया था। वह किसी अन्य कुंज में पीछे थी। तरंग अपने विचारों में खोयी, आगे बढ़ती रही और यहाँ तक आ गयी थी। इस अप्रत्याशित सकट ने एक बार तो उसे विचलित ही कर दिया। उसने तुरन्त ही सारे शरीर पर चादर लपेट ली और भूमि पर लेट गयी। साँस तो उसकी स्वतः ही सध गयी थी। कुछ पलों तक तो मधुमक्खियों के कोप का आभास उसे होता रहा। वे कुंज में तेजी से उड़ती भिन-भिनाती रहीं। अनेक उससे टकरा कर भी

आगे निकलती रहीं। कुछ ही समय में धीरे-धीरे यह वातावरण शान्त होने लगा। तरंग की जान में जान आने लगी। घोर संकट के समय विवेक ही सच्चा साथी होता है। जिसने विवेक खो दिया—उसने सब कुछ खो दिया। तरंग ने धैर्य और विवेक से दो काम लिया। परिणामतः उसकी रक्षा भी हो गयी। वह जानती थी कि दौड़-भागकर मधुमक्खियों से बचना सम्भव नहीं है। अन्ततः मक्खियाँ अपने छत्ते में समा गयीं। इक्की-दुक्की मधुमक्खी कहीं अपने अस्तित्व का आभास करा जाती थी। जब तरंग पूर्णतः रक्षित अनुभव करने लगी तो धीरे से उसने चादर खोली। संकट जब बिना कोई हानि किये गुजर जाता है तो चित्त को एक सुखद आश्वस्तता अनुभव होने लगती है, मन नाना अज्ञातों के प्रति कृतज्ञ और आभारी हो उठता है। कुछ ऐसी ही अनुभूति के साथ तरंग बिना आहट किये, उठी और धीमे कदमों से कुंज के बाहर आ गयी। अब वह संकट की परिधि पार कर चुकी थी। उसे आश्चर्य इस बात का था कि सारसिका भला कहाँ रह गयी। उसके बिना तो तरंग जैसे स्वयं में ही एक अपूर्णता अनुभव करती थी। उसकी दृष्टि जब सखी को खोजती कुछ दूर-दूर तक जाने लगी तो सहसा उसके मन में एक उत्फुल्लता जागी। उसने कुछ ही दूरी पर सखी को अपनी ओर आते देख लिया था। समीप पहुँचना भी अभी शेष था कि तरंग ने उलाहना दे दिया—"कहाँ रह गयी थी तू !! इधर मुझ पर यह आफत आ गयी और तू ...।"

"कौन...आफ़त कौन सी भई ! क्या हो गया मेरी तरंग को... अरे घबरायी सी लग भी रही है। आखिर हुआ क्या है"—प्यार से सखी ने पूछा। और अवहेलना के स्वर में उत्तर दिया तरंग ने—"हुआ मेरा सिर...तुझे तो हर समय ठिठोली सूझती है। इस कुंज में मधुमक्खियाँ मेरे पीछे पड़ गयीं। बड़ी कठिनाई से प्राण बच पाये हैं।" तरंग ने कहा।

"अरे ! दो क्षण अलग क्या हुई तुझसे मैं कि तुझ पर कोई-न-कोई मुसीबत आ ही जाती है। मेरी प्यारी तरंग, कहीं डंक तो नहीं मारा मधुमक्खियों ने !" चिन्तित मुद्रा में सखी ने अपना हाथ तरंग के तन की ओर बढ़ाया। इस हाथ को पीछे धकेलती हुई तरंग कहने लगी—"अब रहने भी दे ये सब नाटक...उस समय होती तो ...। अच्छा ही हुआ सारसी कि तू नहीं थी। तू तो बच ही नहीं सकती थी मधुमक्खियों से...।"

"अरी रहने भी दे ! मैं होती, तो भी मधुमक्खियों का शिकार मैं

नहीं हो पातो। मुझ में वह बात कहाँ सो तुझमें है। अपनी कोमलता में तू ही तो फूल होने का भ्रम करा सकती है। मक्खियों ने तुझे फूल समझा होगा। मुझमें भला उन्हें फूल की भ्रान्ति कैसे हो पाती! तू भी तो हमें कांटा समझती है। है न! क्या मैं....।" वाचाल सखी बोलती ही जा रही थी कि तरंग ने प्यार से एक हलका सा धप् उसकी पीठ पर जमाया। बोली—"बस....बस अब बस भी करेगी, या ।" और दोनों सखियाँ आगे बढ़ गयीं। सारसिका मन ही मन अपना दोष स्वीकारने लगी थी। नहीं....नहीं मुझे तरंग को अकेली नहीं छोड़ना था। कहीं कुछ हो जाता तो....। हलका उलाहना देकर उधर तरंग उससे प्यार से बतियाने लगी। मैत्री का तन्तु बड़ा कोमल होता है। शिकवा-शिकायत को लम्बा नहीं करके ही इसे अटूट रखा जा सकता है। टहलती-टहलती तरंग अपनी सखी के संग कुंज वन से निकलकर सरोवर के पक्के घाट पर आ गयी। उसकी दृष्टि निर्मल जल पर विशेष रूप से गयी। पानी में घाट की पक्की सीढ़ियाँ दूर तक स्पष्ट दिखायी दे रही थीं। यही तो निर्मलता है।

सरोवर की निर्मलता से प्रभावित तरंग शान्त होकर जल को देखती रही। उसे भीतर ही भीतर एक अद्भुत अनुभूति होने लगी। अविचल भाव से गम्भीर और एकाग्रचित्त हो बैठी तरंग को सारी गतिविधियों को सारसिका मौन होकर समझती जा रही थी। उसे लगा कि सरोवर को देखकर अचेत हो जाने की प्रवृत्ति अभी भी तरंग में शेष है और यह उसी की प्रक्रिया चल रही है। सहसा पानी की सतह को छूकर एक पक्षी छप्प की हल्की सी ध्वनि के साथ आकाश में कुछ ऊपर उठ गया। पक्षी के साथ तरंग की दृष्टि भी ऊपर उठी। पहले से आकाश में प्रतीक्षा कर रहे अन्य पक्षी से वह जा मिला। दोनों पक्षी आकाश में गोल-गोल चक्कर लगा कर एकदम नीचे को उतरे और उड़ान की दिशा बदलकर दोनों ही साथ-साथ आकर तट पर बैठ गये। एक ने दूसरे की चोंच से चोंच मिलाई। दोनों तब आस-पास फुदकते रहे। दोनों का प्रेमाचार भी दर्शनीय हो उठा था। एक पक्षी उड़ा। दूसरा उसके पीछे से उड़कर आगे निकला और और उसे भी अपने संग लौटा लाया। घाट पर बैठे कुछ उछल-कूद करके तब दोनों पानी में डूबी पहली सीढ़ी पर उतर आये और जल-क्रीड़ा करने लगे। बार-बार वे अपने गीले पंखों को फड़फड़ा कर सारसिका का ध्यान अपनी ओर खींच लेते। तरंग तो टकटकी लगाये इन पक्षियों को ही निहार रही थी। इन चकवा-चकवी पक्षियों की चपलता, इनकी क्रीड़ा, इनका अनुराग

भाव देखते ही बनता था। इस पक्षी युगल को देखकर तरंग को लगता था कि उसका कोई पूर्व सम्बन्ध चकवा-चकवी से रहा है ? यह क्या था ···यही स्मरण करते हुए उसका समग्र मानस केन्द्रीभूत हो गया था, उसके मस्तिष्क पर असीम दबाव होने लगा। एक स्थिति इसी क्रम में ऐसी आ गयी कि जिसमें उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया, वह अचेत हो गयी। तरंग का शिथिल शरीर सावधान सारसिका के सहारे लुढ़क गया। कोमलता के साथ सखी ने तरंग को सँभाला। अपनी गोद में उसका सिर रखकर वह अपने आंचल से हवा करने लगी। उसने पाया कि अचेतावस्था में भी तरंग मानसिक रूप से सक्रिय है। उसका मनोमन्थन चल रहा था। उसके मुख पर आने वाले भाव उसके मानसिक संघर्ष का परिचय दे रहे थे। समस्या क्या है, कैसी हो सकती है—सारसिका अनुमान नहीं लगा पायी, किन्तु तरंग की मूर्च्छा से वह कुछ व्याकुल अवश्य हो गयी। शीघ्र ही उसने व्याकुलता छोड़कर उपचार भी आरम्भ कर दिया। सच्चे मित्र अविचलित रहकर ही मित्रों के कष्टों को दूर करने का प्रयत्न कर पाते हैं। सारसिका ने जलोपचार किया। अपना आँचल भिगोकर उसने तरंग के मुख को शीतलता दी। आशानुकूल कुछ ही समय में तरंग चेत में आ गयी। उसे इस बार थकान या शिथिलता नहीं, स्फूर्ति का अनुभव होने लगा था। यह अनुमान उसकी सखी को भी हुआ और यह उसका आश्चर्यजनक अनुभव था।

"यह क्या हो जाता है तुझे तरंग ? सरोवर देखकर अब भी तुझे मूर्च्छा आ जाती है। ऐसा क्यों होता है ?"—सखी ने कोमल स्वर में पूछा।

"यह अन्तिम अवसर था सारसिका···अब ऐसा कभी नहीं होगा। सरोवर देखकर मुझे पूर्वभव की घटनाओं का आभास होने लगता, किन्तु स्पष्ट कुछ ज्ञात नहीं हो पाता था। सोचती कि ऐसा ही सरोवर पहले कभी देखा है, इसका मेरे साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कैसा सम्बन्ध, कब, किस सरोवर के साथ रहा—कुछ जान नहीं पड़ता। मेरे मस्तिष्क पर स्मरण करने की प्रक्रिया का अत्यधिक दबाव पड़ता और मैं मूर्च्छित हो जाती। जानने की सारी कोशिश व्यर्थ रह जाती थी।" विस्तार से अपनी बात स्पष्ट समझाने के ढंग से तरंग ने कहा—"किन्तु सखी, अब सारी समस्या हल हो जायेगी। आज इस सरोवर में क्रीड़ा करते चक्रवाक

युगल को देखकर मुझे जातिस्मरणज्ञान हो गया है। इस जोड़े ने मुझे आज पूर्वजन्म का स्मरण करा दिया है।।" यह कहकर तरंग तो मौन हो गयी, किन्तु जिज्ञासु सारसिका का उत्साह बढ़ गया, वह सब कुछ जान लेना चाहती थी। उत्कंठिता सखी ने पूछ ही लिया—क्या स्मरण आ गया है तरंग तुझे, अपने पूर्वजन्म के विषय में ? हैं ? चकवा-चकवी ने कैसे स्मरण करा दिया तुझे ?"—कुछ क्षणों के लिए सखी का मुख भी खुला रह गया।

"तुझे जानकर आश्चर्य होगा सारसी, मैं पूर्व जन्म में चक्रवाकी थी। और....." तरंग इस रहस्योद्घाटन की प्रतिक्रिया भाँपने के लिए क्षणेक को रुकी। उसने सखी की ओर ताका। सारसिका की तो आँखें ही मानो कपाल पर चढ़ गयीं। क्या कहती है तरंग, ऐसा कैसे सम्भव है ? विस्मय में डूबी सारसिका ने पूछ लिया।

अपनी सखी को आश्वस्त कराने के लिए तरंग ने पुनरुक्ति की "हाँ मैं चकवी थी—अपने पूर्व जन्म में। चक्रवा-चकवी के जोड़े ने मुझे आज यही स्मरण करा दिया है।" सहसा तरंग आत्मविभोर हो उठी। उनके मनः चक्षुओं के समक्ष मानों उस पक्षी जीवन का चित्रपट सा प्रस्तुत हो गया। एक आकर्षक मुस्कान अधरों पर व्याप्त करती हुई वह फिर बोली—"मेरी प्यारी सखी चकवा-चकवी का प्रेम सच्चा और निर्मल होता है। हमारा भी ऐसा ही प्रेम पारस्परिक प्रेम था, जीवन भर वह अटूट रहा। मेरा चकवा मुझ पर प्राण न्योछावर करता था, मैं उसकी और वह मेरा था—बस और किसी का कोई और था ही नहीं। हम दोनों से ही हमारा जगत बना था। लेकिन हमारे प्यार भरे जीवन का ऐसा क्रूर, ऐसा दुखद अन्त हुआ.....ऐसा।" कहती हुई सहसा उसका गला भर आया। हृदय में सहसा पीड़ा कसमसा उठी। वह धरती निहारने लगी। उसे अपनी पलकें ऊपर उठाना भी भारी हो गया।

इस अद्भुत प्रसंग से अभिभूत सखी सारसिका बड़ी विचित्र स्थिति में आ गयी थी। कुछ पल तो मानो वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी हो उठी थी। प्रयत्नपूर्वक सामान्य होते हुए सखी ने तरंग को कोमलता के साथ स्पर्श करते हुए मूक धीरज दिया। हल्की थपकी देते हुए सारसिका ने अपनी सखी की प्रशस्ति की—"अरी, मैंने आज तक तुझे इतनी विचलित, इतनी व्याकुल नहीं देखा। क्या बात है ? मैं तेरी पीड़ा समझ सकती हूँ तरंग। अतीत की

पीड़ा स्मरण तो आ सकती है, किन्तु उससे दुखी होने से क्या लाभ !! तू तो गम्भीर है, विवेकशील है। तू आज ऐसा आचरण क्यों कर रही है ....हैं ?"

"मैं क्या करूँ सारसी....मैं क्या करूँ... मेरी पीड़ा है ही ऐसी। हमें बड़ी निर्दयता के साथ पृथक कर दिया गया था। मेरे लिए भी प्राणों की आहुति देने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं बचा था..." तरंग ने आत्माभिव्यक्ति की और उसका मन भारी हो गया। उसने एक लम्बी साँस छोड़ी। सारसिका ने उसे फिर ढाढ़स बँधाया और बोली—"तरंग, तू अपनी कथा मुझे बता। इससे तेरा मन तो हल्का होगा ही मुझे भी सन्मार्ग की प्रेरणा मिलेगी। कैसे तुम्हारा बिछोह हो गया... कौन निर्दयी था जिसने...?" सारसिका इतना ही कह पायी थी कि बीच में ही उत्साह के साथ तरंग बोल पड़ी—"सुन सखी, सुन..... आज तू जानना चाहती है तो मैं भी कुछ नहीं छिपाऊँगी। प्रेम की इस कथा को तो जितनी बार दुहराया जाय उतनी ही बार उसमें नवीनता का रस मिलता है। गंगा तट पर हमारा वह पूर्व-भव व्यतीत हो रहा था। चकवा-चकवी का प्यार तो जगत में उदाहरणीय होता है, सौभाग्य था कि हम उसी प्यार का उपभोग करते थे। हम दोनों को एक-दूसरे पर गर्व था। प्रेम ही हमारी पूँजी थी। एक-दूसरे का संग ही हमारे प्यार भरे जीवन का पाथेय था। शीतल पवन के साथ आकाश में ऊँचे हम उड़ा करते। सुखद गंगाजल में क्रीड़ा करते, तट की बालू में उछलते-कूदते। वृक्षों का सुखद आश्रय था। हम प्यार ही प्यार में दिन बिताते, प्यार भरी बातें करते-करते ही हम सो जाते थे।"

"तरंग ! तुम तो आज भी प्यार की प्रतिमा लगती हो। तुम्हारा वह जीवन चकवा-चकवी का रहा हो तो तुम्हारे प्यार की असीमता में भला क्या सन्देह हो सकता है, पर उस प्यार में व्यवधान कैसे आ गया...?" सारसिका ने जिज्ञासा प्रकट की।

हुआ यों कि "एक दिन इस प्यार भरे प्रसंग का अन्त ही आ गया समझो। मैं और मेरा प्यारा चकवा गंगा की धारा के ऊपर हवा में कुलांचें भर रहे थे। किसी प्रकार की कोई आशंका नहीं थी। तीसरा प्राणी यदि कोई आया तो वह गजराज था सारसी... जो नित्य ही गंगा स्नान के लिए वहाँ आया करता था। हमारी आपस में अच्छी मैत्री हो गयी थी। हाथी के साथ हम दोनों क्रीड़ा करने लगे। कभी पीठ पर बैठ जाते, तो कभी

पेट के नीचे से आर-पार निकल जाते, कभी उस विशाल देह की ओट में लुका-छिपी खेलने लग जाते। सूंड़ उठा-उठा कर गजराज भी अपना आनन्द व्यक्त कर देता। तभी किसी कौथे प्राणी की उपस्थिति का आभास हुआ। पेड़ के पत्ते खड़के और एक किर्मम तीर आकर मेरे प्रियतम चकवे को बेध गया। तीर में विंधा चकवा तट पर जा गिरा। खड़ा तीर अब भी अपने घातक पराक्रम पर इठला रहा था। मुझ पर तो गाज ही गिर गयी। मेरा सर्वनाश हो गया। मैं बड़ी रोयी··· क्रन्दन करती रही। तभी पेड़ों के झुरमुट से एक नर निकल कर आया। वह हमारी ओर ही बढ़ रहा था। भय से आक्रान्त होकर मैं समीप के वृक्ष की टहनी पर जा बैठी। वह कोई आखेटक था, जो स्वयं बड़ा दुःखी लगता था। मैंने दूर से देखा कि वह नर मेरे मृत चकवे के समीप आया, तीर निकालकर उसने एक ओर को फेंक दिया और कोमल स्पर्श देने लगा··· किन्तु अब सब व्यर्थ था। मेरे प्रियतम के प्राण-पखेरू तो कब के उड़ चुके थे। मुझे ऐसा लगा कि जैसे उस नर को आत्मग्लानि हो रही हो, किसी भारी पश्चात्ताप की छाया उसके मुख पर अंकित थी। कुछ क्षण तो वह मौन, आँखें बन्द किये बैठा रहा··· बैठा रहा··· फिर धीमे-धीमे वह उठा, उठकर उसने सूखी टहनियां बटोर कर चिता रचायी और चकवे का शव रखकर उसने चिता प्रज्वलित कर दी। इस दारुण स्थिति का मैं सामना नहीं कर पायी और प्रेम के अतिरेक से प्रेरित होकर मैं भी अपनी डाल से उड़ी, चिता की ओर बढ़ी और उसी धधकती चिता में कूद गयी। वह चिता प्रेमी-युगल की चिता बन गयी। प्राणान्त के साथ मैंने प्रीति की मर्यादा रख ली। यों हमारी प्रणय गाथा का कारुणिक अन्त हुआ, यों हम मिट गये।" कथनान्त में तरंग ने फिर एक दीर्घ निश्वास ली और दुखद निराशा में डूब गयी। उसका सारा उत्साह मन्द हो गया। उसे शैथिल्य ने अन्दर-बाहर से घेर लिया। वह धीमे धीमे चरण बढ़ाती हुई कचनार के नीचे आ खड़ी हुई। सारसिका उसे सहारा दिये रही—बाहर से भी और भीतर से भी। समीप ही स्फटिक आसन निर्मित था। वे दोनों उस पर कुछ क्षण विश्राम के लिए बैठ गयीं।

कुछ पलों की चुप्पी के पश्चात, सारसिका ने ही प्रसंग छेड़ा—"तरंग ···ओ री तरंग !! कहाँ खोयी है ?" तरंग जैसे गहरी नींद से चौंकी और उसे झकझोरते हुए सखी ने पूछा—"जो बीत गयी सो बात गयी ··तरंग तू उस बीते जीवन को लेकर आज क्यों इतनी दुःखी है ? छोड़ उस प्रसंग को···"

किन्तु प्रसंग को यहीं छोड़ना अब तरंग के लिए सम्भव न था। प्रसंग तो अब से ही आरम्भ हुआ है। उसने कहा—"सारसिका देख हम यहाँ आ गये ना चकवा-चकवी का जोड़ा भी यहाँ आ गया। जब तक मैं उपवन में रहूँगी''' ये मेरे आगे-पीछे घूमते रहेंगे। इन्हें आन्तरिक आभास हो गया है कि पूर्वभव में मैं भी इनके जैसी चकवी थी। सच तो यह है''' "कुछ क्षण रुककर तरंग ने कहा—"सच यही है कि इस जोड़े को देखकर ही मुझे जाति स्मरण ज्ञान हुआ, मैं अपने पूर्वभव को पूरी स्पष्टता से अब जान-समझ गयी हूँ। मुझे एक अस्पष्टता की बेचैनी थी अब तक, मैं कुछ जानने को उतावली थी। अब जान गयी हूँ तो इस ज्ञान ने मुझे एक दूसरी बेचैनी दे दी है। इसीलिए तो कहती हूँ कि प्रसंग तो अब आरम्भ हुआ है।"

"प्रसंग आरम्भ हुआ''''' नयी बेचैनी ' मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा – तू कहना क्या चाहती है ? सुन तरंग, कुछ समझा कर बात बता।" सारसिका की इस जिज्ञासा ने तरंग को सहारा दिया। उसे प्रतीत होने लगा—जैसे उसके लिए कोई सहायक है, उसकी निस्संगता अब समाप्त होगी ही, उसे एक विश्वसनीय, अन्तरंग साथी की उपलब्धि हो गयी है। तरंग ने सखी को रहस्य उद्घाटित करने की मुद्रा में बताया—"जैसे पूर्वभव की मैं चकवी इस जन्म में तरंगवती हूँ—वैसे ही मेरा चकवा भी इस भव में कहीं जन्मा है, नर रूप में जन्मा है। वह भी मेरी तरह ही इसी क्षेत्र में है, कहीं आस-पास है। आवश्यकता उसे खोजने की है, पहचानने की है और उसे पूर्वभव की सम्बन्धता से परिचित कराने की है"—यह कहती हुई तरंग उठ खड़ी हुई। सारसिका का सहारा लेकर वह कुछ आगे बढ़ी। उसने तुरन्त ही अपनी बात पुनः आरम्भ की—"अब मेरी बेचैनी उसे खोजने की है। जब तक मुझे वह मिल नहीं जाता तब तक मुझे शान्ति-सन्तोष नहीं होगा सारसी नहीं होगा। वही मेरा इस जीवन का भी पति होगा। अन्यत्र कहीं भी मेरा विवाह सम्भव नहीं होगा। तुझे मेरी सहायता करनी होगी—मेरी प्यारी सखी—तुझे सहायता करनी होगी।" सारसिका मौन बनी रही, जैसे वह तरंग से कुछ और सुनना चाहती हो। हुआ भी ऐसा ही कि तरंग ने अपनी बात को स्वतः ही आगे बढ़ाया। वह बोली—"सुन सारसी, एक सावधानी हम दोनों को करनी होगी। मैंने तुझे अपना रहस्य बताया है—यह तुझ तक ही सीमित रहना चाहिए किसी पाँचवें कान को इसकी भनक भी नहीं पड़नी चाहिए। जहाँ, जब आवश्यक हो जायेगा, तभी इसकी उपयुक्त ढंग से चर्चा होगी।" तरंग ने एक महत्वपूर्ण टिप्पणी

की और इस में औचित्य स्वीकारते हुए; सारसिका ने अपनी सहमति भी दे दी। कहने लगी—इस बात से तो परिचित मैं भी हूँ कि हमें सावधानी रखनी ही होगी, किन्तु यह खोज भी सुगम कार्य नहीं है। कोई योजना और युक्ति इसके लिए करनी ही होगी।"

दोनों सखियाँ इसी भाँति बतियाती हुई धीमे-धीमे चलती रहीं। चकवा पक्षी युगल अब भी इनके आगे-पीछे उछलता-कूदता रहा। इन्हें देख-देखकर तरंग की उद्विग्नता और बढ़ती रही। उसकी व्याकुलता सारसिका से भी छिपी नहीं रही। उसे लग रहा था कि तरंग जब तक पद्मवन में रहेगी ये पक्षी इसके आस-पास चक्कर लगाते रहेंगे और अपने अनजाने प्रियतम की स्मृति में तरंग व्याकुल रहेगी। इसका अब उपवन से प्रस्थान करना ही उपयुक्त रहेगा। इसी आशय की इच्छा स्वयं तरंग ने भी व्यक्त कर दी थी। उसका तन-मन थकित और क्लान्त था। उसे विश्राम चाहिये था, एकान्त भी।

चलते-चलते ये दोनों उस स्थल पर आ गयी थीं जहाँ उन्हें अन्य जनों का कोलाहल सुनाई देने लगा था। माता सुनन्दा को जब सूचना मिली कि तरंग अस्वस्थ है तो वह सब कुछ छोड़-छाड़कर तुरन्त दौड़ी आयी। चिन्ता और भय से उसका मुख विपर्ण हो गया था। वह बड़ी उद्विग्नता के साथ तरंग का सिर सहलाने लगी "क्या हो गया मेरी बिटिया को"? अब जी कैसा है ?" कहती हुई सुनन्दा ने उसे अंक में भर लिया।

जब तरंग ने बताया कि कोई बहुत विशेष बात नहीं है, चक्कर आ गया था और अब दुर्बलता लग रही है, तो माँ कुछ आश्वस्त हुई। उसे कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। माँ ने स्वयं निश्चय कर लिया कि वह इसी समय बिटिया को घर ले जायगी। सुनन्दा ने अपनी सखी-सहेलियों से क्षमा माँग ली, उनसे अनुरोध किया कि दिन भर का सारा कार्यक्रम उसी प्रकार चलता रहे—सारी व्यवस्थाएँ भी आगे से आगे होती ही जायेंगी, बस उसे छुट्टी चाहिए। क्या करें ? स्थिति ही ऐसी है, जाना ही पड़ेगा। सभी ने विवशता को समझ भी लिया। सुनन्दा ने तरंग और सारसिका के साथ रथारूढ़ होकर घर के लिए प्रस्थान किया।

सारसिका को छोड़कर किसी को भी उसकी अस्वस्थता का रहस्य ज्ञात नहीं था। पद्मवन के सरोवर के कारण आज तरंग पुनः अचेत हो

गयी थी, उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वभव का स्पष्ट आभास भी—यह सब कुछ उसके माता-पिता भी नहीं जान सके थे। वात्सल्यवश वे चिन्तित भी हुए, चिकित्सा व्यवस्थाएँ भी की गयीं—किन्तु बात कुछ और ही थी।

इतना कहकर तरुणी साध्वीजी क्षणेक विश्राम हेतु मौन हुई ही थीं कि श्रेष्ठिनी सोमावती ने स्वतः ही कहना आरम्भ कर दिया—चक्रवाक का वध तो पञ्जा के पति गंडक के हाथों ही अनजाने में हो गया था न! आपने उस कथा में यह भी बताया था कि विरहाकुल चकवी ने भी प्रियतम चकवे की चिता में ही कूद कर आत्मदाह कर लिया था। प्रेम की उज्ज्वलता का उदाहरण इससे अच्छा भला और कौन सा हो सकता है!! यही चकवी आगामी भव में तरंग रूप में जन्मी यह तो समझ गयीं हम, किन्तु एक बात नहीं समझीं ..." संकोच करती सोमावती बोलती-बोलती रुकने लगी। साध्वीजी ने उत्साहित किया तो उसने अपनी समस्या रखी—"तरंग ने अपने आत्मदाह की बात तो अपनी सखी से बता दी, किन्तु उसने यह क्यों नहीं बताया कि आत्मग्लानि और पश्चात्ताप के वशीभूत आखेटक गंडक ने भी तत्काल आत्मदाह कर अपने प्राण विसर्जित कर दिये। यह भी तो एक महत्वपूर्ण घटना रही थी और ..।" "समझ गयी मैं तुम्हारे प्रश्न को समझ गयी हूँ। श्रेष्ठिनी तरंग अपने पूर्वभव में चकवी थी, उसने अपने आत्मदाह की बात तो बता दी क्योंकि यह उसके उस जीवन की घटना थी। आत्मदाह के पश्चात उसका जीवन तो समाप्त हो गया। फिर जो घटना घटी कि गंडक ने भी आत्मदाह कर लिया उसका ज्ञान चकवी को कैसे हो सकता था? इसी कारण तरंग को भी यह विस्तार ज्ञात नहीं था। तरंग को यह तथ्य भी ज्ञात हुआ अवश्य, किन्तु जातिस्मरण ज्ञान हो जाने के पश्चात ही ऐसा हुआ था। अतः उस समय तक तो वह इतना ही वर्णित करने की स्थिति में थी।"

सतर्क उत्तर पाकर श्रेष्ठिनी सोमावती का मानस संतुष्ट हो गया। संतोष की यह झलक उसके चेहरे पर एक कांति बनकर छा गयी।

६

"अब तरंग की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उसके भीतर एक तीव्र बेचैनी और छटपटाहट थी। कुछ भी किये बिना उसे कल न पड़ती थी।" यह कहते-कहते साध्वीजी ध्यानपूर्वक सोमावती की मुखमुद्रा निहारने लगीं। उसके हाव-भाव में एक अद्भुत जिज्ञासा झलकने लगी थी। वह सहसा साध्वीजी के समीपतर हो गयी। आगे सरकते हुए भी उसका सारा ध्यान उनकी ओर ही बना रहा। उसकी टकटकी लगी रही। श्रोता की ऐसी स्थिति का आकलन किसी वक्ता से छूट ही नहीं पाता है। साध्वीजी ने स्वतः ही स्पष्ट कर दिया—"आश्चर्य न करो सोमावती! मैंने कहा था न कि तरंगवती की कथा से हमारे जीवन का गहरा सम्बन्ध है। इसे ठीक ही मानो और विश्वास करो कि इस कथन में नितान्त सर्वथा सत्य है।" सोमावती की प्रतिक्रिया भाँपने के प्रयोजन से साध्वीजी क्षणेक रुकी और उन्होंने पाया कि सोमावती श्रेष्ठिनी की गोल-गोल आँखें पूर्णाकार में खुल गयीं, उसका मुख भी खुला का खुला रह गया। बड़ी कठिनाई से वह कुछ शब्द जुटा पायी और बोली—"कहीं आप स्वयं ही तरंगवतीजी तो नहीं हैं कहीं आप ही पूर्वभव की चकवी रही हों ऐसा तो नहीं।" एक घना प्रश्नचिह्न उसकी मुखमुद्रा में उभर आया। साध्वीजी ने उपेक्षा भरी मुस्कान के साथ उसके अनुमान की अवहेलना कर दी। हतोत्साहित होकर वह बुझी-बुझी सी आगामी कथांश सुनने को तत्पर हो गयी। उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—"आप सचमुच महान हैं धन्य हैं आप"—और उसके दोनों हाथ जुड़कर ऊपर उठ गये, पलकें बन्द और मस्तक झुक गया। सोमावती की यह श्रद्धा भावना पाकर साध्वीजी का हृदय भी आर्द्र हो उठा। वे भरे हुए गले के साथ कथा को आगे बढ़ाने लगीं—

तरंगवती की समस्या अब यह थी कि वह अपने पूर्वभव के चक्र-

वाक को इस भव में कैसे खोजे ? उसका मन तो यही कहता था कि प्रियतम चक्रवाक ने भी अपने नव-भव में मानव देह धारण की होगी और यहीं कहीं । समस्या केवल पहचान की है । इतने बड़े कौशाम्बी में कौन क्या है कैसे ज्ञात हो । सम्भव है वह भी अपने पूर्वभव की चक्रवाकी की खोज में हो । उसके सामने भी पहचान की ही समस्या हो । वह भी, सभव है कि तरंग की भाँति उद्विग्न, अशांत, व्यग्र हो । तरंग के समक्ष सच ही बड़ी विकट समस्या थी ।

तरंग सोचती कि मैंने पूर्वभव में सर्वथा उज्ज्वल आचरण किया था । मैंने अपने मृत पति के साथ, उसी की चिता में जीवित आत्मदाह किया था । उसके प्रेम की पुजारिन मैंने सती-धर्म का निर्वाह किया था । सतियों को अपने अगले जीवन में भी वही पति पुनः मिलता है । तरंग को अपनी इस दृढ़ आस्था के आधार पर यह पक्का विश्वास था कि उसकी कामना स्वतः ही पूर्ण होकर रहेगी । इस भव में उसे जीवन-साथी के रूप में पूर्वभव का पति चक्रवाक मिलेगा ही मिलेगा—पर बेचैनी और उद्विग्नता तो इस बात की थी कि वह मिलेगा कब ? क्यों नहीं शीघ्र ही मिल जाता ? तरंग को तो भय यह भी था कि उसको कोई उपक्रम और प्रयत्न ही नहीं पाएगा और उसके भावी जीवन साथी को कौन जाने अपने पूर्वभव का आभास हुआ भी हो या नहीं !! ऐसी स्थिति में मिलन की सम्भावना कहीं मिथ्या न हो जाय !

तरंग धर्मप्रिय कन्या थी । अराधना और धर्मक्रियाओं में वह सदा अग्रणी रहती थी । वह कर्म सिद्धांत में अटल विश्वास रखती थी । व्रत-उपवास आदि का नियमित निर्वाह उसके आचरण का अभिन्न अंग हो गया था । उसे अपने जीवन की उज्ज्वलता और पवित्रता के आधार पर यह पक्का विश्वास था कि उसकी झोली खाली नहीं रहेगी । वह सोचती कि जैसे मुझे इस जन्म में नारी देह मिली है, उसे भी नर देह ही मिली होगी —वही मेरे इस भव का स्वामी होगा, वही मेरा पति होगा । पर उस नर की खोज का प्रश्न बड़ा विकट था । उसकी शक्ल-सूरत, आकार-आकृति, रंग-रूप का कुछ भी तो आभास नहीं । खोज किस आधार पर की जाय ! सोच-विचार से खोज का कोई रास्ता मिलता भी तो वह कुछ ही दूर चल कर बन्द मिलता और तरंग को लौटकर अपनी जगह पर ही पहुँच जाना पड़ता । बात वहीं की वहीं खड़ी मिलती । ऐसी हर असफलता तरंग को

और अधिक उदास कर देती। किसी से इस सम्बन्ध में परामर्श लेना भी तो सम्भव नहीं था। किसी की भी सहायता सम्भव न थी। कुल मिलाकर स्थिति बड़ी गम्भीर, बड़ी विकट थी।

दैवयोग से तरंग को अपनी अन्तरंग सखी सारसिका का संग सुलभ था। यही एक बहुत बड़ा सहारा था। तरंग को इसकी मैत्री पर गर्व था। सखी के परामर्श पर ही उसने कर्मग्रन्थों का पारायण आरम्भ किया था। इससे उसे मानसिक शान्ति मिलती थी। उसके मानस में एक बात दृढ़तापूर्वक जम गयी कि धर्माचरण और धैर्य मनुष्य को सभी संकटों से उबार लेते हैं। ये ऐसे साधन हैं जिनसे सभी दुस्साध्य भी सध जाते हैं, सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। साध्वीजी के इस उल्लेख के समय उनके मुखमण्डल पर एक दिव्य आभा झलक उठी। उन्होंने कहा कि तरंग के माता-पिता उसके धर्माचरण से बड़े प्रसन्न रहते थे, वे इसे अधिकाधिक प्रबल बनाने को भी प्रेरित करते रहते थे।

तरंग के पिता नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन स्वयं बड़े विवेकशील थे। वे अपनी पुत्री को समस्या से सर्वथा अनोभिज्ञ थे। पुत्री तो सायास अपना संकट अपने तक ही सीमित रखना चाहती थी। वह अभी अपने पूर्वभव के प्रसंग को किसी पर प्रकट करना ही नहीं चाहती थी। फिर भी उसके मन की अशान्तता उसके व्यवहार में किसी सीमा तक व्यक्त अवश्य हो जाती थी। पिता ने उसे आयंबिल व्रत का परामर्श दिया। इस व्रत में स्वयं उनकी तो गहन आस्था थी। तरंग ने एक सौ आठ दिवस का आयंबिल व्रत किया। व्रत कठोर था ही, मानसिक उद्वेग भी था; परिणामतः वह अतिशय दुर्बल हो गयी। उसे एक परिवर्तन अवश्य अनुभव होने लगा कि उसे यह विश्वास पक्का हो गया कि उसके पुण्य जो अस्त हो गये हैं; अवश्य ही पुनः उदित होंगे। उसकी मनोकामना पूर्ण होकर रहेगी।

उपवास के दिनों में भी तरंग को उसके पूर्वभव के चक्रवाक की खोज की चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी, अतः उसके मन में उन्हीं दिनों एक विचार आया, एक उपाय उसे सूझ गया। उसने बड़ी गहराई से उस उपाय पर सोच-विचार किया और पाया कि यदि ऐसा प्रयत्न किया जाय तो सफलता मिल सकती है। व्रत की सम्पूर्ति पर तरंग ने सारसिका के संग विचार-विमर्श किया। तरंग की बात सुनकर सखी अत्यधिक उत्साहित हो उठी। तरंग को उसका अनुमोदन तो मिला ही इस प्रयत्न में उसके सम्पूर्ण सहकार का आश्वासन भी मिल गया।

चित्रकला की गहरी अभिरुचि और अभ्यास तो तरंग को था ही। उसने एक योजना बनाकर उसके अनुरूप चित्रांकन की बात सोची थी। उसे पद्मवन के सरोवर पर जो पूर्वभव का ज्ञान हो गया था—उस सारे प्रसंग को वह क्रमबद्ध रूप में अनेक चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित कर देना चाहती थी। काम बड़ा व्यापक भी था और मार्मिक भी, किन्तु अन्तःप्रेरणा की शक्ति महान होती है। वही सफलता के लिए सच्चा सामर्थ्य जगा सकती है। पवित्र भावना और निर्मल मन से तरंग ने चित्रांकन का कार्य आरम्भ कर दिया।

पहला चित्र बड़ा ही मनोरम, प्राकृतिक छटा का था। सुरम्य गंगा तट, ललित कानन, सुन्दर फूलों से लदे वृक्ष। वन्य फलों का, कमनीय लताओं का सुन्दर चित्रण। पशु-पक्षियों की झलक के साथ सूर्योदय का अरुणाभ अंकन! यह पहला चित्र ही बड़ा चित्ताकर्षक बन गया था। दर्शक इसे देख कर शेष चित्रों की ओर बढ़े बिना नहीं रह पाते। अगले चित्रों में विशेष रूप से जलक्रीड़ा-मग्न गजराज का अंकन किया गया था। चक्रवाक युगल को भी इस चित्र में प्रदर्शित किया। वानस्पतिक वैभव; पवित्र, चंचल जल; वन्य शोभादि भी बढ़-चढ़ कर ही इस चित्र में उभरे। गजराज के मस्तक पर बैठे चक्रवाक और उसके ऊपर मंडराती चक्रवाकी के चित्रांकन में तो इस कृति की सारी महत्ता ही समा गयी थी। चित्र के इस अंश ने इसे अनुराग पूर्ण कर दिया था। अगले चित्र में वनवासी आखेटक जुड़ गया। गंडक कमान पर तीर चढ़ा कर प्रत्यंचा खींचे, दम साधे, लक्ष्य को दृष्टि में जमाए, एक पैर पीछे को खिसका कर और दूसरे को झुकाए हुए खड़ा दिखाया गया। गजराज अब भी जल-क्रीड़ा कर रहा था। सूँड में जल भर कर पीठ पर उछालते हुए उसके दो वक्र, शुभ्र दन्त बड़े दीप्तिमान दिखायी दे रहे थे। ये दन्त ही विशेष रूप से प्रभावपूर्णता और दृष्टिकेन्द्रता के साथ चित्रित हुए थे।

गजराज की पीठ के ऊपर चक्रवाक बैठा है तो चक्रवाकी उसके पेट के नीचे से होकर उस पार जा रही है—यह भी दिखाया गया। तरंग ने कई दिनों तक कड़ा श्रम किया और प्रसंगानुसार आगे से आगे चित्र बनाती चली गयी। जब सफलता का विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तो श्रम और लगन स्वतः ही कई गुनी बढ़ जाती है—काम में मन रम जाना ही साधना है और सच्ची साधना कभी अकारथ नहीं जाती। उसने सारी चित्रमाला तैयार

कर दी। कैसे गंडक का लक्ष्य चूका और बाण चक्रवाक को लगा, कैसे तीर से बिंधकर वह तट की बालू पर आकर गिरा और तड़पकर प्राण दे दिया, किस प्रकार चक्रवाकी दुखी होकर करुण क्रन्दन करती रही सब कुछ दर्शाया गया। इसी प्रकार गंडक के अनुताप का भाव भी बड़ी गहराई के साथ अंकित किया गया, गण्डक द्वारा बाण निकाल कर मृत चक्रवाक का अग्नि संस्कार, चक्रवाकी द्वारा आत्मदाह, आत्मग्लानि से भरे आखेटक गण्डक का आत्मदाह आदि सारे प्रसंगों को भावातिरेक के साथ चित्रित कर दिया गया था। अनेक चित्रों की यह एक क्रमिक चित्रमाला तैयार हो गयी थी। चित्रों के नीचे पृथक से कथांश भी लिख दिये गये। पूरी चित्रमाला दर्शक पर अपूर्व छाप छोड़ने की समर्थता रखती थी।

तरंग ने चित्रमाला तैयार करली और यह कार्य सम्पन्न होते-होते कौशाम्बी के कौमुदी महोत्सव का समय भी समीप आ गया। महोत्सव इस नगर का बड़ा ही प्रतिष्ठित और गौरवपूर्ण अवसर माना जाता था। एक विशाल मेला लगता था। गीत-संगीत-नाट्य-नर्तन के विविध रंगारंग कार्यक्रम होते। दूर-दूर से उत्साहित मेलार्थी भाग लेने को आते थे और कौशाम्बी में एक असाधारण चहल-पहल हो जाती थी। योजना यह थी कि कौमुदी महोत्सव के अवसर पर ही इस चित्रमाला का सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाय। सम्भवतः इस कथा-दर्शन से पूर्वभव के चक्रवाक को अपने इस भव में जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाय और इस प्रकार खोज को सफलता मिल जाय।

८

कौशाम्बी के इस गौरवपूर्ण अवसर—'कौमुदी महोत्सव' का ऐतिहासिक महत्व था। दूर-समीप के असंख्य जन इस मेले में भाग लेने आते थे। यही वह अवसर था जब कारीगरों को अपने कलात्मक उत्पादनों के लिए न केवल प्रशंसाएँ, अपितु मनमाना दाम भी मिल जाता था। अनेक प्रकार के आभूषण, अलंकृत वेश, मूल्यवान वस्त्र, शोभा सामग्रियाँ इत्यादि-इत्यादि हाथोंहाथ बिक जाती थीं। बाजार के एक भाग विशेष में तोता मैना आदि पक्षियों और अश्व, गो, गज आदि पशुओं का क्रय-विक्रय भी होता था। अनेक विशाल पाण्डाल और मंच भी निर्मित किये जाते थे। कहीं नृत्य-संगीत की सभा जुड़ती, तो कहीं रूपकों का अभिनय चलता, कहीं नट जादूगरों के चमत्कारपूर्ण करतब चलते तो कहीं विदूषकगण अपनी 'हा हा सभा' में डूबे रहते। कहीं मल्ल अपने शरीर सौष्ठव, दंगल आदि का प्रदर्शन करते तो कहीं अस्त्र-शस्त्रों के संचालन एवं हस्तलाघव का प्रदर्शन होता। जनता के संग-संग राजपरिवार भी महोत्सव में भाग लेता था। देर रात तक कौशाम्बी में एक सजीवता बनी रहती, कोलाहल बना रहता था।

इस महोत्सव में एक विशेष आकर्षण जुड़ गया था। इस बार एक चित्र प्रदर्शनी लगी थी। कहते-कहते साध्वीजी एक क्षण के लिए मौन रह गयीं। उन्होंने श्रेष्ठिनी सोमावती के मुख की ओर निहारा। उन्हें लगा जैसे वह कुछ कहने को है। पूर्व इसके कि उसके बोल फूटते; स्वयं साध्वीजी ने ही कथारंभ कर दिया—

हाँ... हाँ वह तरंग के चित्रों की ही प्रदर्शनी थी। स्वयं महाराज उदयन ने चित्र प्रदर्शनी के प्रथम दर्शक बन कर उसका मान बढ़ाया। महाराज ने दीप प्रज्वलित कर संध्या समय ही समारंभ किया। सारथिका ने ही बताया कि यह उत्सव भी बड़ा आकर्षक रहा। महाराज ने बहुत

रुचि के साथ इस दीर्घा के समस्त चित्रों को देखा। वाद्य वादन का भी अद्भुत संयोजन था। प्रत्येक चित्र के समीप शहनाई, सारंगी आदि पर चित्र के भाव के अनुरूप धुन बजती रही। परिणाम में चित्रानुकूल प्रभाव सुदृढ़ हो जाता और भावना दर्शक के मन को छू लेती। महाराज का कलाकार मन भावाभिभूत हो उठा। वे हर चित्र के लिए वाह-वाह! कर उठे थे। सखी सारसिका चित्रमाला के क्रमिक चित्रों के सन्दर्भ वर्णित करती रही जिससे एक कारुणिक प्रेमगाथा उजागर हो उठती थी।

मेला स्थल के एक प्रमुख चौराहे पर निर्मित भवन में लगी यह चित्र दीर्घा—सबके आकर्षण का बिन्दु बन गयी। मुख्य द्वार पर जल के किनारे क्रीड़ामग्न प्रेमी युगल पक्षी चकवा-चकवी का बड़ा भावपूर्ण चित्र था। मेलार्थियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह चित्र बहुत सहायक रहा। इसे देख, अन्य चित्रों के प्रति जिज्ञासा का बढ़ जाना भी स्वाभाविक था। महाराज उदयन ने स्वयं इसका उद्घाटन किया, वे इसके प्रथम दर्शक बने हैं—यह तथ्य दर्शकों के उत्साह को और भी अभिवर्धित कर देता था। प्रत्येक चित्र के समक्ष प्रज्वलित उल्वन थी। इसके प्रकाश में चित्र के सारे रंग खिल-खिल पड़ते थे। सारसिका ने अपनी सहयोगिनी सखियों को पृथक पृथक कर्त्तव्य सौंप दिये थे। प्रवेश द्वार पर सभी दर्शकों के लिए शीतल पेय की व्यवस्था भी कर दी गयी थी। सारसिका स्वयं भी और उसकी सखियाँ भी चित्रों को समझने में दर्शकों की सहायता करती रहीं—आवश्यक व्याख्या पाकर चित्र के भाव दर्शकों के मन में उतर जाते और वे सराहना कर उठते।

तरंग प्रदर्शनी में स्वयं उपस्थित नहीं रही। उसे अपने भवन में ही रहना था। महाराज उदयन ने यह सुझाव दिया था कि इतने सुन्दर चित्रों का निर्माण करने वाले कलाकार का अपना चित्र तो इस दीर्घा में कहीं होना ही चाहिये। रात्रि में ही तरंग ने अपना चित्र स्वयं अंकित किया। सारसिका ने आगामी प्रातः ही दीर्घा के मध्य किसी उपयुक्त स्थल पर वह चित्र भी स्थापित कर दिया। दिन भर दर्शकों का तांता लगा रहा। समूह के समूह आते, ध्यानपूर्वक चित्रों को देखते, कथा को समझते और सराहते। क्या सुन्दर चित्र हैं कैसी स्वाभाविकता है" आहा चकवा-चकवी तो कैसे सजीव से लगते हैं""गजराज भी जैसे सचमुच का हो। चकवी" के क्रन्दन में कैसी करुणा है" उस चित्र में शिकारी की एकाग्रता देखने

योग्य है तो इस चित्र में उसकी आत्मग्लानि जैसे साकार हो उठी है। ऐसी कलाकार कन्या ने तो कौशाम्बी को धन्य कर दिया है आदि-आदि। सारसिका सब सुनती रहती"" मन ही मन प्रसन्न और गर्वित भी होती रहती। सभी चित्रों को देखते थे और तरंग की सखी सारसिका दर्शकों की आँखें देखती थी, मुख के हावभाव देखती थी। उसे तो यह ज्ञात करना था कि किस दर्शक पर चित्रों की क्या प्रतिक्रिया होती है? उसके मन में कैसे भाव जागते हैं? और उसे इस प्रकार पूर्वभव के पति की खोज करनी थी।

दो दिन बीत गये। सारसिका को कोई सफलता नहीं मिली। रात काफी बीत गयी, तब वह तरंग के पास आयी। सफलता न मिलने पर भी उसके मुख पर उत्साह था। उसने विस्तार से दिन भर का वृत्तान्त बताया। अधिक आशावादी नहीं रह सकी तरंग। एक लम्बी साँस छोड़ते हुए सखी से उसने कहा—"इससे क्या अन्तर आता है कि प्रदर्शनी को कितने-कितने लोगों ने देखा या किन-किन लोगों ने देखा। इससे भी कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता कि चित्रों की कितनी प्रशंसा हो रही है! हमारा श्रम तो तभी सार्थक होगा न, जब हमारी खोज सफल हो। और उसकी अब मुझे तो आशा नहीं लगती।" अपने कोमल स्पर्श के साथ तरंग की ठुड्डी ऊँची उठाती हुई सखी बोली—"देख, मेरी आँखों में झाँक कर देख! कहीं उदासी या निराशा तुझे मेरे नयनों में दिखायी देती है। हमारा प्रयत्न यदि सोत्साह रहा तो उसका फल तो मिलना ही है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमें सफलता मिलकर रहेगी। तू बड़ी जल्दी ही निराश हो जाती है। अभी एक पूरा दिन है, हमारे पास। आज मैं खोज ही निकालूँगी"—यह कहती हुई वह तरंग की पीठ थपथपाने लगी और आँखें नचाती हुई, उछलती-कूदती हुई हवा हो गयी। वह तो चली गयी किन्तु उसकी यह अन्तिम छवि तरंग की कल्पना के नेत्रों के समक्ष बनी ही रही। उसे भी अब प्रतीत होने लगा कि सम्भव है—सारसिका को सफलता मिल ही जाय! आत्मविश्वास और उत्साह की सीढ़ियाँ ही मनुष्य को सफलता की ऊँचाई पर पहुँचाती हैं। लगन उसे सहारा देती है और धैर्य उसका हाथ थाम कर आगे बढ़ाता है।

यह तीसरी रात्रि वास्तव में तरंगवती के जीवन में एक उथल-पुथल ही लेकर आयी। सारसी प्रदर्शनी-स्थल से उस रात कुछ अधिक विलम्ब से लौटी। प्रदर्शनी अब समाप्त हो चुकी थी। सारे चित्र उसकी सहयोगिनियाँ ले आयी थीं। दिन भर के श्रम से भी सारसी को शिथिल नहीं होने

दिया था। तरंग को देखा तो वह दूर से लपक कर आयी और उसे बाहु-पाश में आबद्ध कर लिया। उसके हर्ष का कोई पार ही नहीं था। बधाई देते हुए उसने तरंग से कहा कि हम दोनों का श्रम सार्थक हो गया है। पूर्वभव के तरंग के पति की खोज उसने कर ली है। वह भी कौशाम्बी के ही एक धनाढ्य का पुत्र है। सुना तो तरंग का हृदय बाँसों उछलने लगा। भावातिरेक से अबकी बार उसने सखी को आलिंगन में ले लिया और कहा—"सखी हो तो तेरे जैसी हो, सारसी ! एक अद्भुत कार्य कर दिखाया है तूने। मुझे तुझ पर गर्व है। तेने जो उपकार मुझ पर किया है "मैं उसका " कथन पूर्ण होते न होते तरंग के मुख पर सखी ने हाथ रखकर उसे मौन कर दिया और कहा—"अच्छा रानी जी, अच्छा ! अब यह भाषण तो बन्द कीजिये और""और "क्या तुझे यह जानना नहीं है कि यह सब कुछ हुआ कैसे ?"

सारसी ने तरंग के हृदय में छिपे उत्साह को उद्दीप्त कर दिया, वह बोली—"जानना क्यों नहीं""यही तो जानना है "तू बोल न""यही जानने को तो मैं जाने कब से विकल हूँ। बता, सारसी ! बता, वे कौन हैं ? कैसे ? कैसे "कैसे पता लगा तुझे ?"

"तो सुनो महारानी जी ! ध्यान से सुनो"—कुछ गर्वानुभव के साथ सारसी ने आरम्भ किया—

आज सबेरे से ही मुझे मन ही मन विश्वास था कि आज का दिन हमारी सफलता का दिन होगा। सारा दिन इसी विश्वास के साथ बीत गया। हर नया आने वाला द्वार से प्रवेश करते ही मेरे हृदय में आशा की ज्योति जगा देता था। मैं सारे चित्रों को देखते हुए उसे देखती रहती। अन्ततः वह मन के भीतर की वह ज्योति बुझाकर विदा हो जाता। फिर कोई आता और यही क्रम। शाम भी ढल गयी। हमने दीर्घा की उल्काएँ प्रज्वलित कर दीं। काफी समय तो सुनसान रहा। कोई भी नहीं आया। हम निराश होकर प्रदर्शनी समेट लेना चाहती थीं कि उसी समय चार-पाँच युवाओं का एक दल आ पहुँचा। उनमें प्रमुख दिखायी देने वाला युवक कलाकार लगता था। मोगरे की माला पहने वह रेशमी वस्त्रों में सजा हुआ था। समीप आने पर लगा कि वह इत्रादि सुगन्धियों का भी उपयोग करता है। एक मोहक मुस्कान तो उसके अधरों पर सदा ही बिखरी रहती है। वह रूपवान कलाकार ज्योंही पहले चित्र के समक्ष

आकर खड़ा हुआ और कुछ पलों के लिए ध्यानस्थ हो गया। उसकी भाव-भंगिमा से लगता था कि वह जैसे कहीं खो सा गया। सहसा उसने पलकें खोलीं और 'वाह-वाह' कर उठा। अगले ही क्षण उसने चित्र को अपने काव्य में उतार दिया। बोला—

यह गंगा माँ, यह अस्ताचल, ग्रि दिनकर अरुण-अरुण से।
कहते हैं ये रंग-घटित होने को हैं प्रसंग अब करुण-करुण से॥

उस युवा कलाकार की प्रतिभा ग्रि मैं तो अत्यन्त प्रभावित हो गयी। उसने प्रथम चित्र से ही आगामी कथा-सार का अनुमान लगा लिया और वह भी सत्य-सत्य !! मैं तो आश्चर्यचकित रह गयी। मैं कुछ पूछने को हुई कि कलाकार आगे बढ़ गया। अब वह गजराज वाले चित्र के समक्ष था। एक करुण हास उसके मुख पर विस्फोरित हो उठा। एक क्षण को उसने धरती की ओर ताका और चित्र को देखते हुए बोल पड़ा—

जल क्रीड़ा में मग्न सुनो गजराज तुम्हारे श्वेत दन्त।
कहीं छीन ना लें बेचारी चकवाकी के प्राण-कन्त॥

मैं तो तरंग उसकी इस उक्ति को सुनकर संशय में पड़ गयी। यह व्यक्ति कहीं कोई मायावी तो नहीं। इसे आगामी चित्र का आभास अभी से कैसे हो गया। इस चित्र में तो जल क्रीड़ा करता हाथी और उसके आसपास उड़ान भरते चक्रवाकी-चक्रवाक ही दिखाये गये थे। सर-संधान किये हुए शिकारी गंडक तो अगले चित्र में आने को था। जो भी हो, व्यक्ति वह असाधारण था।" सारसिका कहती जा रही थी और तरंग को विद्यालय का वह साथी याद आने लगा जो उस समय उसके मेरे चित्रों के भावों को काव्य में ढाल दिया करता था। क्या नाम था""उसका हाँ— पद्मदेव नाम था उसका। वह भी तो कौशाम्बी के ही किसी धनी परिवार का था। खैर।" तरंग सारसिका की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगी। वह कह रही थी—"उस युवा कवि के मित्र वाह-वाह कर उठे। मैं तो मंत्रमुग्ध सी उसकी गतिविधियों को ही ताकती रह गयी। तरंग ! उस युवक ने चित्रों के भावों को अपने आशु काव्य में रूपान्तरित कर दिया। जब वह उस चित्र के सम्मुख पहुँचा जिसमें गंगा तट की बालू पर शर-बिद्ध चकवा तड़प रहा था और चकवी करुण क्रन्दन कर रही थी, तो वह विकल हो उठा। हाय ! कहकर उसने अपने हृदय पर हाथ रखा और मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। अचेतावस्था में भी उसके मुख पर भीतरी भाव-संघर्ष

के चिह्न स्पष्ट लक्षित होते थे। मुझे विश्वास हो गया कि हो-न-हो यही पूर्वभव का चक्रवाक होना चाहिये।

कवि के अचेत हो जाने पर एक बार तो मैं भी घबरा गयी। उसके मित्र भी हड़बड़ा गये। युवक कवि की ऐसी स्थिति उसके मित्रों ने कभी नहीं देखी थी। वे कोई कारण भी कल्पित नहीं कर पा रहे थे। घबराई आवाज में एक मित्र चिल्लाया पानी पानी। तभी मुझे भी ध्यान आया कि जलोपचार किया जाना चाहिये। जल तो हमारे पास था ही। कवि के मुख पर शीतल जल के छींटे दिये जाने लगे। कुछ पलों में उसकी चेतना लौट आयी। वह आँखें खोलकर भी मानो किसी अन्य ही लोक में विचरण कर रहा था। उसके नेत्रों में एक अद्भुत और डरावना सूनापन था। वह उठा और अपने इतने मित्रों के साथ होने पर भी निस्संग सा आकाश को ताकने लगा। वह बड़बड़ाने लगा""प्यारी चक्रवो तू कहाँ है? कहाँ है तू मेरी चक्रवाकी? क्रूर बहेलिये ने मुझको तुझसे छीन लिया "तू अकेली "। हाय चक्रवाकी! हाय प्रियतमे!"

मित्रगण सभी अचंभित थे कि यह क्या करने लगा है उनका मित्र। मुझे तो कुछ-कुछ आभास होने लग ही गया था। इस सारे जगत से जैसे उसका नाता ही टूट गया था। वह किसी को भी उपस्थिति का आभास नहीं पा रहा था। बस वह था, चक्रवाकी की स्मृतियाँ थीं और वे मित्र थे बस। युवक ने तब बारी-बारी से सारे चित्र देख डाले। अन्ततः करुण स्वर में धीमे से बोला "मेरी प्रिय चक्रवाकी तू भी मेरा वियोग सहन नहीं कर सकी ना! हाँ, तूने भी उसी चिता में भस्म होकर अपने प्राण त्याग दिये। धन्य है चक्रवाकी तू और धन्य है तेरा प्रणय भाव। तू अमर प्रेम की शाश्वत प्रतीक है चक्रवाकी—तेरे संग ने मुझे भी धन्य कर दिया।" इतना कहकर वह शून्य की ओर तकने लगा। होठों ही होठों में वह कुछ बुदबुदाता रहा। उसकी यह दशा देखकर मित्रगण तो विचलित ही हो उठे—कहीं विक्षिप्त तो नहीं हो गया यह। तरंग! सुन, मैंने उस युवक को बड़ी सावधानी से जाँचा-परखा। उसकी सारी गतिविधियों का अध्ययन करती रही। सहसा गगन भेदी स्वर के साथ वह चिल्लाया "चक्रवाकी!! मेरी प्यारी चक्रवाकी!! मेरे प्यार में तूने प्राण त्यागे हैं, जीवित आत्मदाह किया है तूने! मैं भी अब इस भव में तुझे पाकर रहूँगा। चक्रवाकी तू ही अपने इस भव में अब मेरी जीवन-संगिनी होगी। तुझे मैं खोज कर ही

रहूँगा।" इतना कहकर युवा कवि कुछ सहम सा गया। "कहाँ है तू मेरी चक्रवाकी अपने इस भव में कहाँ है ? कहाँ खोजूँ मैं तुझे ? किस रूप में है तू ?"—कहते हुए, तरंग वह सहसा तेरे चित्र के समक्ष आकर खड़ा हो गया और शान्त भाव से वह तुझे देखता रह गया।

एक मित्र ने उसका कंधा पकड़कर झकझोरते हुए कहा—"मित्र··· क्या हो गया तुझे···इस चित्र में ऐसा क्यों खो गया ? क्या बात है ?" और युवक जैसे नींद से जाग उठा और बड़बड़ाने लगा—"चक्रवाकी मेरी प्रिये चक्रवाकी···कहाँ है तू ?" अन्य मित्र ने उसे सचेत करते हुए कहा—"क्या प्रलाप कर रहा है ? कौन चक्रवाकी और किसकी प्रिया ? है, तू पगला तो नहीं गया ?"

इसी समय युवा कवि कुछ सावधान हुआ और बोला—"सुनो, मित्रो ! मैं ठीक हूँ···बिलकुल ठीक हूँ। ये चित्र देखकर मुझे पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मैं ही अपने पूर्वजन्म में चक्रवाक था जिसे आखेटक का बाण लगा। मृत्यु प्राप्त कर मैं इस भव में तुम्हारा मित्र हूँ। मेरी चक्रवाकी मेरी चिता में कूद कर जीवित जल मरी। वह भी मेरी भाँति अपने इस भव में यहीं कहीं किसी रूप में होगी। मैं उसे कैसे पाऊँगा ? उसके बिना मेरा जीवन ही अब असम्भव है मित्रो, मुझे अपनी प्रेयसी को खोजना है।" इतना कहकर कवि शान्त हो गया। मित्रों ने समझ लिया, इन चित्रों में कवि के पूर्वभव की कथा का ही चित्रण है।

युवा कवि तो पुनः अतीत की स्मृतियों में डूब गया। मैंने ही उसके मित्रों से वार्तालाप आरम्भ किया। सुनिये···ये आपके मित्र कौन हैं ? कहाँ के हैं ?

एक युवक ने उत्तर दिया—"देवि, यह हमारा मित्र पद्मदेव है। सार्थवाह धनदेवजी का यह इकलौता पुत्र है। यहाँ आने से पूर्व यह सर्वथा सामान्य था, यह चित्रावली देखकर उसमें अद्भुत परिवर्तन आ गया है। क्या बात है ? ये चित्र किसने बनाये हैं ? क्या प्रयोजन है इनका ?"

तब मैंने उन्हें समझाकर कहा कि मेरी सखी तरंगवती ने ये चित्र बनाये हैं। तरंग नगरश्रेष्ठी ऋषभसेना की कन्या है। यही पूर्वभव में चक्रवाकी थी। जातिस्मरण ज्ञान से जब उसे अपने पूर्वभव का ज्ञान हो गया तो वह अपने प्रेमी चक्रवाक को इस भव में प्राप्त करने के लिए व्यग्र

हो गयी। उसे प्राप्त करने के प्रयोजन से ही उसने यह चित्रमाला तैयार की है ? सौभाग्य की बात है कि उसे उसके प्रयत्न में सफलता मिल गयी।"

मेरी बात सुनकर कवि के मित्रगण उत्साह से भर उठे। एक मित्र ने पद्मदेव से कहा—तेरी समस्या अब हल हो गयी मित्र""अब कोई चिन्ता नहीं। समझ ले, तेरी प्रेयसी तुझे प्राप्त हो गयी। कौशाम्बी में हो जब वह है तो काम सुगम ही हो गया। अब क्या कठिनाई है ?" अपने गम्भीर मौन को भंग करते हुए उदासी के साथ पद्मदेव ने कहा—"सारी कठिनाई तो अब उपस्थित हुई है। मित्रो ! तरंग के पिता नगर सेठ अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ नहीं करेंगे। मैं सार्थवाह का पुत्र जो हूँ। उन्हें सार्थवाह परिवार में कोई रुचि नहीं है।"

मित्रों ने पद्मदेव को आश्वस्त किया कि अब समस्या जटिल नहीं है। हम सभी तेरी सहायता करेंगे। परिणाम सुखद ही होंगे। आओ चलें कोई योजना सोचेंगे—यह कहते हुए वे सभी वहाँ से विदा हो गये।

यह वृत्तान्त सुनाकर सारसिका ने तरंग की ओर उन्मुख होते हुए कहा कि अब सौभाग्य के द्वार खुल गये हैं और पूर्वभव का जीवन-साथी मिल जायगा। सखी को तो यह पक्का विश्वास था सोमावती, पर तरंग की अपनी आशंकाएं थीं। वह सोचती—पद्मदेव की बात ही मेरी बात भी थी। पिताजी मेरा विवाह उनके साथ नहीं करेंगे "कदापि नहीं करेंगे—यह मैं जानती थी। सार्थवाह होने की मूल बाधा है। पिताजी तो उस परिवार में मेरे लिए प्रस्ताव भेजेंगे नहीं। पद्मदेव के पिता से कैसे कहा जाय कि वे प्रस्ताव भेजें। कदाचित् तब तो यह बात बन भी जाय ! सोमावती के समक्ष भी अब एक विचारणीय समस्या आ गयी थी। पूर्वभव के चक्रवाक-चक्रवाकी की इस भव में प्रणय की रक्षा की वह हृदय से कामना करती थी। उसकी सारी सहानुभूति तरंगवती के लिए सशक्त हो उठी थी। वह मन प्राण से चाहती थी कि तरंग की कामना किसी प्रकार पूर्ण हो जाय। श्रोता और वक्ता दोनों अपने-अपने विचारों में खोये, अचंचल, शान्त बैठे रह गये। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था।

९

तरंगवती और सारसिका का न जाने कौन सा आत्मीय सम्बन्ध रहा—कुछ कहा नहीं जा सकता। वह सदा तरंग की हितैषिणी बनी रही। उसकी वह अन्तरंग सखी थी जिसका साहचर्य सर्वथा निःस्वार्थ था। वही सच्चा मित्र होता है जो हमारी आवश्यकता के समय हमारा सच्चा सहारा बनता हो। हर कोमल परिस्थिति में सारसिका तरंग को सँभालती थी, उसे साहस और प्रेरणा देती थी। और तरंग भी उसी के समक्ष अपना हृदय खोल कर रख सकती थी। दोनों अक्षियाँ समायु थीं, समरहस्य थीं। तरंग के जीवन-क्रम ने जो नया मोड़ लिया था—उस परिस्थिति में तो उसे सारसिका का ही एकमात्र आसरा मिल रहा था, उसी का सहयोग और सम्बल था।

साध्वीजी मनोयोग पूर्वक कथा को आगे बढ़ा रही थीं और जिज्ञासु सोमावती दत्तचित्तता के साथ सुनने लगी थी। उसकी सारी चेतना संकलित होकर साध्वीजी की वाणी की ओर उन्मुख हो गयी थी—उसकी अचंचल दृष्टि भी साध्वीजी के चरणों में केन्द्रित हो गयी। साध्वीजी कहती रहीं—

सारसिका का यह विश्वास था कि अब, जब प्रेमी-प्रेमिका दोनों को एक-दूसरे का पता चल ही गया है तो पद्मदेव सचेष्ट हो जायगा। उसके पिता परिणय-प्रस्ताव लेकर अब कभी भी नगरश्रेष्ठी के पास आ सकते हैं। तरंग भी इस विश्वास से असहमत नहीं हो सकती थी। उन्हें धनदेव के आगमन की प्रतीक्षा करना ही उपयुक्त लग रहा था। सारसिका को अब समाधान समीप ही नहीं, सुगम भी लग रहा था। तरंग को कुछ ऐसा भी लगता था और कुछ वह अपने पिता के दृष्टिकोण के कारण

आशंकित भी थी। उन दोनों का विचार था कि पद्मदेव तो इस विषय में अपने पिता से कुछ अनुरोध करने से रहा। उसका कोई मित्र ही यह कार्य कर सकता है और ऐसा वह कोई अनुकूल अवसर पाकर ही करेगा—ताकि धनदेव की ओर से उपेक्षा न मिले। इस सारे प्रयत्न में तीन-चार दिन का समय तो लग ही सकता है। तरंग को यह अल्पावधि भी बड़ी लम्बी लग रही थी। कितनी ही उद्विग्नता और अशान्ति क्यों न हो, पर अब प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प भी तो नहीं था। तरंग अपने पिता से इस विषय में कुछ कहती, अथवा सारसिका प्रयत्न करती—यह उपयुक्त नहीं लग रहा था।

बिना किसी अनुकूल लक्षण के जब तीन-चार दिन बीत गये तो तरंग विकल हो उठी। रोती-कलपती वह सखी से लिपट गयी और बोली—"क्या होने वाला है, सारसिके! क्यों कोई बात आगे नहीं बढ़ती? अपने प्रियतम को प्राप्त कर लेने के बाद भी क्या मुझे उन्हें खो देना पड़ेगा? क्या कुछ ऐसा है कि स्वयं पद्मदेव ही नहीं चाहते हों?"

"नहीं तरंग! नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है। जब पूर्वभव के प्रियतम को इस भव में पहचान लेने जैसा असम्भव सा कार्य भी सम्भव हो गया है तो मिलन में अब क्या बाधा आ सकती है? देर भले ही हो सकती है तरंग, पर अन्धेर नहीं हो सकता। तुम्हारा मिलन होकर ही रहेगा।"—सारसिका के इस कथन से तरंग का अधीर मन कुछ आश्वस्त हुआ। उसे कुछ स्थिरता अनुभव होने लगी। वह बोली, "सारसी, तू कदाचित ठीक ही कहती है कि अन्धेर नहीं होगा, किन्तु यह देर जो लग रही है, यह तो मेरे लिए प्राणलेवा होती जा रही है। मैं तो समुद्र तट पर बालू में तड़पती मछली के समान हो रही हूँ जिसे अपार जल लहराता दिखायी दे रहा है, वह समुद्र की समीपता का आभास तो पाती है पर उसे प्राप्त नहीं कर पाती। हमें कुछ करना होगा सारसी! कुछ करना ही होगा। अन्यथा ये व्याकुल प्राण इसी प्रकार तड़पते हुए विसर्जित हो जायेंगे।" भावावेश के कारण क्लान्त तरंगवती की साँस तीव्र हो उठी। उसे नियन्त्रित करने के प्रयास में उसके भाल पर स्वेदकण छलछला आये थे। उसने किसी प्रकार अपना कथन आगे बढ़ाते हुए कहा—"तू तो सारसी, उस रात्रि में उनका भवन भी देख चुकी है न! ऐसा कर मुझे आज रात्रि ही उनके पास ले चल। मैं जाऊँगी मैं स्वयं उनके पास जाऊँगी सारसिके! उनसे मैं

आमने-सामने प्रणय-निवेदन करूँगी। तू एक बार मुझे ले चल उनके पास···मैं मैं जाऊँगी।"

अच्छी और सच्ची सखी की भाँति सारसिका ने तरंग को न केवल ढांढ़स ही बँधाया, प्रत्युत उसे मर्यादाहीनता के व्यवहार से भी रोका, उसके शील की रक्षा की। उसने तरंग को प्रबोधन दिया—'ना तरंग, ना, हमें ऐसा कदापि नहीं करना है। तनिक और प्रतीक्षा ही तो करनी होगी—हम करेंगी। हमें अपनी नीति, अपना आदर्श नहीं त्यागना है।" सारसी की ये बातें घोर उद्विग्नता के क्षण में भी तरंग को भली लगी। उसने यह परामर्श मान लिया। उसका कहना था कि आज नहीं तो कल, धनदेव की ओर से प्रस्ताव आयगा। अन्तस्थल में विश्वास तो तरंग को भी था, किन्तु बाहरी परिस्थितियाँ अधीर कर देती थीं। वह सोचती कि अच्छा ही हुआ कि मैं पद्मदेव के पास नहीं गयी। 'अच्छा किया'—का संतोष भी उसे अनुभव होता था और मिलन में हो रहा विलम्ब भी दुस्सह होता जा रहा था।

अगले तीन-चार दिवस और बीत गये, पर आशा पूर्ण नहीं हुई। बेचैनी उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। दिन के प्रहर तो सखी के संग किसी प्रकार कट भी जाते, पर रात्रि का व्यतीत होना दूभर हो जाता। पद्मदेव के साथ तरंग का पूर्व परिचय था ही। कदाचित् इस कारण भी उसके मन का आकर्षण तीव्र था, घनीभूत था। कदाचित् इस कारण भी उसे छट-पटाहट अधिक थी। उसके मन में भाँति-भाँति की आशंकाएँ भी उठ रही थीं। कहीं पद्मदेव उस जनम के नाते को इस भव में गम्भीरता से न ले रहा हो—ऐसा तो नहीं है। विद्यालय का इनका सम्पर्क बड़ा संक्षिप्त, ऊपर-ऊपर का और औपचारिक, किन्तु अतिशय मधुर था। उस आधार पर पद्मदेव की सहृदयता में कोई आशंका तरंग के मन में नहीं थी। बात यही थी कि बाद की परिस्थितियाँ न जाने किस प्रकार विकसित हुई हों—उसे कुछ ज्ञात न था। वह कभी सोचती—कहीं ऐसा न हो कि उनका प्रणय-भाव किसी अन्य के प्रति हो" रात्रि के नीरव प्रहरों में ऐसी अनेक चिन्ताएँ उसे त्रस्त करती रहतीं। मैं किसी भी दशा में अपने पूर्वभव के जीवन साथी को इस भव में खोना नहीं चाहती। परिणाम चाहे कुछ भी हो। मैं एक बार तो अवश्य ही उन्हें अपने प्रणय का आभास कराऊँगी—तरंग के मन में इस आशय के संकल्प भी उठते रहते। वह सोचती कि इस भव में उनका प्रेम मेरे प्रति कम और दुर्बल भी हो गया होगा, तो मैं

उसे पुनः प्रबल बनाऊंगी। उनके बिना अब मेरे जीवन का कोई अर्थ भी तो नहीं रह गया है।

प्रणय की घनीभूत भावना के अधीन तरंगवती ने निश्चय कर लिया था कि वह पद्मदेव को प्रेम-पाती लिखेगी, उसने लिखी भी। जब वह एकाकी बैठी पाती लिख रही थी, किसी ने उसके कक्ष में प्रवेश किया। दत्तचित्तावश उसे इसका आभास भी नहीं हुआ। जब वह पाती समाप्त करने को ही थी, तभी पीछे से सारसिका ने उसके दोनों स्कन्ध पकड़कर झकझोर दिया और खिल-खिलाकर हँस पड़ी। तरंग तो अवाक् सी रह गयी। तो सारसिका ने पाती पढ़ ली—यह सोचकर तरंग को कुछ सुख ही मिला। सारसिका ने कहा—राजरानीजी अब इस पाती-वाती से कुछ भी होना-जाना नहीं है। अब कुछ और ही सोचना होगा। तरंग इस पर चौंक उठी, घबरा कर बोली—"क्या कहती है तू! क्या हो गया है? क्या कुछ और सोचना होगा? साफ-साफ बताती क्यों नहीं?" सारसिका ने विस्तार से सारी बात बतायी—

"पद्मदेव के पिता धनदेव हमारे यहाँ आये थे, पर मामला ही सारा चौपट हो गया"—इस सूचना से तरंग का पुनः विचलित हो जाना भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता था। वह तो स्तब्ध ही रह गयी। उसे लगा जैसे उसके सिर पर गाज गिर पड़ी हो। उसके होठों से निकला—"अब क्या होगा? मेरे प्राण तो अब बचेंगे नहीं"—और वह अचेत होने लगी। "हर अच्छे कार्य में बाधाएँ आती ही हैं, पर यदि बाधाएँ दूर नहीं हुईं तो वह कार्य अच्छा ही क्या हुआ? ये तो छोटी-मोटी बाधाएँ हैं; यदि साहस नहीं छूटा तो सफलता तक पहुँचना असम्भव नहीं है"—इन शब्दों के साथ सारसिका ने तरंग को भीतर से सहारा दिया और उसका मन पुनः स्वस्थता की ओर बढ़ने लगा। उसकी भीतरी शक्ति प्रेरणा पाकर बढ़ने लगी। तब उसे सारसिका ने पूरा वृत्तान्त सुनाया।

हुआ यों था कि धनदेव नगरश्रेष्ठी ऋषभसेन के पास आये। ऋषभसेन अपने कोमल स्वभाव के लिए यों भी प्रसिद्ध हैं, बड़े सुसंस्कृत हैं वे। उन्होंने आगत अतिथि सार्थवाह धनदेव की सच्चे हृदय से आवभगत की। दूर से ही उन्हें आते देखकर ऋषभसेन दौड़कर आगे बढ़े, करबद्ध प्रणाम के उपरान्त उन्होंने सेठ धनदेव को गले से लगा लिया। सहज हास और मुस्कान से बढ़कर किसी अतिथि के स्वागत के लिए और कोई प्रभाव-

शाली साधन हो ही नहीं सकता। प्रसन्नचित्तता के साथ अगवानी मिले तो अतिथि को सर्व सत्कार सुलभ हो जाते हैं। नगरश्रेष्ठी इस कला के मर्मज्ञ थे। उनका सारा परिवार ही ऐसा था। नगरश्रेष्ठी ऋषभसेन की मुखमुद्रा में, उनकी वाणी में, उनकी आन्तिक प्रसन्नता की वास्तविक झलक मिलने लगी। यह स्वागत-सत्कार पाकर धनदेव को अतिशय सुख मिला। मखमल मढ़े स्वर्णासन पर उन्हें विराजित किया गया और तरंग के पिताजी करबद्ध हो समक्ष खड़े हो गये, विनय भावना के साथ मुस्कुराते हुए बोले—"कहिये सेठजी! कैसे कष्ट किया? क्या आज्ञा है?"

सार्थवाह धनदेव ने भी उत्तर में विनयशीलता घोलते हुए कहा—"आप भी व्यस्त रहते हैं नगरश्रेष्ठी, हमारा कामकाज भी ऐसा ही है। लगे ही रहना पड़ता है। समय ही नहीं मिल पाता, अन्यथा इच्छा बहुत होती है आपसे मिलने की। मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती है, आपसे। ऐसी प्रसन्नता कि चित्त हल्का हो जाता है। यह प्रभाव अगले चार-पाँच दिन बना रहता है।"

"यह तो बड़प्पन है आपका कि आप मेरे मन को रखने के लिए ऐसा कहते हैं"—ऋषभसेन ने मुस्कुराते हुए कहा। उनके उन्मुक्त हुए हाथ एक बारगी फिर से जुड़ गये। धनदेव ने इस कथन पर ध्यान नहीं दिया, उन्हें सामने खड़े पाकर उन्हें बड़ा संकोच हुआ। वे स्वयं उठ खड़े हुए और सादर आग्रह करने लगे पहले आप बैठिये तो सही, बैठिये—यहाँ बैठिये—कहते हुए तरंग के पिताजी को हाथ पकड़कर उन्होंने अपने सामने वाले आसन पर बिठा दिया और बोले—अब देखिये ना! पिछले हफ्ते भर से बराबर यही सोचता रहा कि आपके पास आना है""आपके पास आना है""और दिन पर दिन निकलते गये, आज ही यह सम्भव हो पाया। काम-काज के दिन जो ठहरे""इतना महत्वपूर्ण कार्य होने पर भी समय ही नहीं निकल पाया""। वे और कुछ कहने को हुए कि नगरश्रेष्ठी ने उन्हें टोकते हुए पूछा—महत्वपूर्ण! कौन सा महत्वपूर्ण कार्य! कहिये ना धनदेवजी, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? निस्संकोच बताइये।

"धनदेव ने कहा—मैं अपने पद्मदेव के विषय में चर्चा करने आया हूँ। वह ""।" ऋषभसेन ने बीच हीमें अपना कथन आरम्भ कर दिया—पद्मदेव इस नगर के अत्यन्त होनहार युवकों में से एक है। कौशाम्बी को उससे अनेक आशाएँ हैं। ऐसा शीलवान, ऐसा योग्य और मनोज्ञ! ऐसे नव-

युवक आज के युग में कम ही मिलते हैं।। हाँ, तो कहिये—क्या चर्चा करनी है उसके विषय में ? अब तो वह भी समुद्रपारीय व्यवसाय में आपका हाथ बँटाने लगा होगा न !"

"जी अब कुछ-कुछ करने लगा है वह भी"—धनदेव कहने लगे। उनका मन सन्तुष्ट था धनदेव के विषय में तरंग के पिताजी की धारणा जानकर। अपनी बात को व्यवस्थित करते हुए धनदेव ने आरम्भ किया—"आप तो जानते हैं, पद्म मेरा एकमात्र पुत्र है। अब कहाँ आप नगरश्रेष्ठी और कहाँ मैं एक साधारण सा सार्थवाह। कहाँ आपकी सर्वगुण सम्पन्ना तरंग बिटिया और यहाँ यह पद्मदेव।। फिर भी आपकी सदाशयता का विश्वास मुझे आप तक धकेल लाया। मुझे भरोसा है, आप मेरा अनुरोध पूरा करेंगे। मैं पद्मदेव के लिए तरंगकली का हाथ माँगने आया हूँ।"

धनदेव का कथन पूरा होते-न-होते नगरसेठ अपने आसन से उठ खड़े हुए। बोले क्षमा करें धनदेवजी, मुझे क्षमा करें—मैं आपकी यह कामना पूर्ण नहीं कर सकूंगा। यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा"—अत्यन्त विनय के साथ ऋषभसेन ने असहमति ज्ञापित कर दी। वे बोले—"तरंग मेरी भी इकलौती पुत्री है। वह तो हमारी प्राण है—आँखों की ज्योति ही मानो उसी के कारण है, हमारी तो। मुझे उसके सुखद भविष्य की सदा ही चिन्ता रही है। मैं जान-बूझ कर उसे संकट में नहीं डाल सकता।"

"संकट""मेरे घर में भी संकट तो कोई नहीं होगा—आपकी कृपा से " धनदेव का कथन पूर्ण भी नहीं हुआ कि किसी प्रकार उसमें बाधा देते तरंग के पिताजी बोल पड़े—"वह बात नहीं है सेठ धनदेवजी ! भला आपकी श्रीसम्पन्नता में कोई शंका कैसे की जा सकती है। आप तो स्वयं नगर के उच्च श्रेणी के श्रेष्ठीजनों में स्थान रखते हैं और पुत्रवधू के सुखी जीवन के लिए जितना वैभव पर्याप्त होता है—उससे सहस्रों गुना सम्पदा आपके पास है, मान है, प्रतिष्ठा है, सभी कुछ है।" "फिर आप सहमति क्यों नहीं दे पा रहे हैं ? क्या अभाव है ?" इस आशय के धनदेव के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि मात्र धन सम्पदा से ही सुख की सम्भावना नहीं बन जाती है। उन्होंने आभास कराया कि धनदेव का सार्थवाह का व्यवसाय है। इस व्यवसाय में विदेश यात्राएँ और दीर्घ प्रवास बने ही रहते हैं। मेरी तरंग को एकाकी जीवन की मानसिक यातना होगी। मैं उसे ऐसे अनचाहे वियोग की परिस्थितियों में नहीं डालना चाहता। और उन्होंने पुनः क्षमा

याचना की। बोले– "मेरी बात का बुरा न मानिये सेठजी, किन्तु स्पष्टवादी रहना अच्छा है—यही आपके और मेरे—दोनों के लिए शुभ है।" दुखी मन से तरंग के पिताजी ने धनदेव को विदा किया कि वे उनका अनुरोध नहीं मान पा रहे हैं। धनदेव भी निराश थे। मंथर गति से वे अपने भवन की ओर बढ़ गये।

सारसिका द्वारा प्रस्तुत इस कृतान्त ने तरंगवती के मिलन विषयक उत्साह के अंगार को भस्मावृत कर दिया—यह सत्य था, किन्तु यह भी एक तथ्य था कि उसे सुयोग के पवन से बड़ी आशा थी जो अंगार को भस्म-मुक्त कर पुनः भड़का देगा। उसकी लौ बुझ नहीं सकती थी—बुझी भी नहीं। दोनों सखियाँ, 'अब क्या किया जाना चाहिए'—इस विषय पर आपस में विचार-विमर्श करने लगीं।

१७

मेघाच्छन्न आकाश और तिमिरच्छादित धरा के मध्य सब कुछ शून्य ही शून्य था। किसी भी वस्तु या दृश्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया था। दृष्टि की विफलता का यह चरमोत्कर्ष था। अन्धकार तो मानो सब कुछ निगलकर चुपचाप बैठा था अटल ··· अविचल। इस निःशब्द रजनी में कौशाम्बी के जनपथ, मार्ग और वीथिकाएँ भी सूनी पड़ी थीं। वर्षा थी कि अतिथि की भाँति कभी भी आ सकती थी। मेघों की गर्जना और कड़क के साथ बिजली का चमक-चमक जाना भी सचमुच भयावह हो गया था। सर्वत्र विराट् शान्ति, अटूट शून्य, अविकल भयानकता ···।

ऐसे में एक नारी-छाया अप्रमुख वीथियों से होती हुई लुकती-छिपती धीमे-धीमे आगे बढ़ रही थी''''सतर्कता के साथ''''सावधानीपूर्वक। उसके नेत्रों में अद्भुत चंचलता आ गयी थी। घूम-घूम कर वे आस-पास के सारे वातावरण को सूक्ष्मता के साथ भाँप लेते थे कि कहीं कोई खतरा ··· कोई बाधा तो नहीं है। आश्वस्त होकर वह दो पग ही आगे बढ़ती कि उसकी आशंका पुनर्जीवित हो उठती। उसका तन-मन सिहर उठता—आरम्भिक अपराधों में जैसे अपराधी विचलित रहता है—कुछ वैसी स्थिति उस नारी-मूर्ति की थी। बार-बार दाएँ-बाँएँ घूम-घूम कर घूरती अधिक और आगे बढ़ती कम थी। लालटेन थमा हाथ ऊँचा उठाकर सामने दूर-दूर तक देख लेती थी, तभी आगे बढ़ती थी। आकाश में विद्युत की दमक कौंधती अन्धकार पराजित हो जाता एक क्षण को और यह भौतिक जगत दृश्यमान हो उठता था। आगामी क्षण में पुनः सब कुछ तमाश्रित हो जाता; जगत की क्षणभंगुरता का प्रभावशाली दृष्टान्त होकर···। इन्हीं क्षणों में वह नारी-मूर्ति भी दीख पड़ जाती थी। सारी देह काली चादर से लिपटी गौरवर्ण

और रूपाभा ऐसी कि अन्धकार में भी उसके लिए पूर्णतः छिपा रहना दुष्कर हो रहा था। वह आजू-बाजू की टोह लेती, चौंक कर पीछे ताकती और झट से आगे बढ़ जाती—लपककर। कौन हो सकती है " इस मध्य रात्रि में कहाँ " किस प्रयोजन से जा रही होगी । सांय-सांय करती उस मौन रात्रि में दूर से आती कुत्तों के भौंकने की ध्वनि कुछ अद्भुत होकर डरावनी लगती थी। उस नीरवता में यमुना की हिलोरों का संगीत भी गूंज रहा था। नारी-मूर्ति अब भी गतिशील थी। अग्रसर होती जा रही थी।

उधर निराश-हताश प्रेमी पद्मदेव जलहीन मीनवत् तड़प रहा था। उसकी उग्र मानसिक पीड़ा चरम पर पहुँच गयी थी। अपार वैभव-प्रभुत्व और सुख-सुविधाएँ उसकी वेदना को विसर्जित करने में सर्वथा अक्षम सिद्ध हो रही थीं। चक्रवाकी की अतिशय प्रीति का आभास पाकर तो वह उद्विग्न हो गया था। चक्रवाकी ने उसके वियोग में प्राण ही त्याग दिये, वह उसके साथ ही भस्म हो गयी धन्य है चक्रवाकी ! और धन्य है उसका प्रेम !! एक मैं हूँ कि उस चक्रवाकी को इस भव में पाकर भी उसे जीवन संगिनी नहीं बना पा रहा हूँ !! धिक्कार है मुझे " सौ बार धिक्कार है सौ बार ! पद्मदेव अपने विचारों में खोया हुआ था कि सहसा वह जीने में होने वाली पदचाप से चौंक उठा। कौन है ? इस समय यहाँ कौन हो सकता है ? वह कुछ अनुमान नहीं लगा पा रहा था। उसे तभी जीने से ही चूड़ियों की धीमी-धीमी खनक सुनायी दी। तो क्या " मेरी चक्रवाकी " मेरी तरंग स्वयं ही आ गयी है मेरे पास। वह सोचने लगा और उसका उत्साह बढ़ने लगा। तभी उसके विवेक ने उसके जोश को ठंडा कर दिया नहीं-नहीं, वह यहाँ कैसे हो सकती है ? अवश्य ही यह मेरा भ्रम है। भला तरंग कैसे "...? तभी उसे खनक समीपतर होती प्रतीत होने लगी। उसके कानों ने उसे आश्वस्त किया कोई भ्रम नहीं कोई भ्रांति नहीं। उसके नेत्रों ने भी साक्षी दी। कुछ ही पलों में पद्मदेव के सज्जित कक्ष में श्याम आच्छादन से आवृत नारी मूर्ति प्रकट हो गयी। पद्मदेव का हृदय बांसों उछलने लगा। नारी-मूर्ति अब भी नत-शिर मौन, अचल खड़ी थी। लालटेन अब भी उसके एक हाथ में लटक रही थी। इस अनायास प्रसंग ने युवा पद्मदेव को भी एक बार तो भीतर तक कँपा दिया। यह क्या माया है ? तरंग होती तो क्या अब तक यों "। यही सब-कुछ सोचते हुए प्रेमी पद्मदेव ने गुहार की "प्रिये ! अब तो न तरसाओ ! अब इतने समीप आकर भी अपने साक्षात् से हमें वंचित रखोगी तो हमारा तड़प-

तड़प कर प्राण त्याग देना स्वाभाविक ही है। हमें बहुत पीड़ा दे चुकी हो "तरंग "मेरी चक्रवो "प्राणेश्वरी""प्रियतमे ! अब प्रकट भी हो जाओ। जब घनीभूत चिन्तन में मैं तरंगवती के प्रेम में खोया था, तभी सहसा तुम्हारा आ उपस्थित होना --विश्वास दिलाता है कि यह तुम "तुम ही हो मेरी चक्रवाकी !

"नहीं""मैं तुम्हारी चक्रवाकी तरंग नहीं हूँ। पहचानो मुझे !" कहते हुए नारी ने अपना अवगुंठन हटाया। अरे ! यह तो सारसिका है"" तरंग की अन्तरंग सखी। यह इस समय यहाँ कैसे ? इस आशय का विचार बाद में उठा—पहले तो उसने उल्लास के साथ उसका स्वागत किया बोला—"देवि ! मैं तो तुम्हारा बड़ा कृतज्ञ हूँ। तुम्हीं ने चित्र-दीर्घा में मुझे मेरे पूर्वजन्म की प्रेयसी से साक्षात् करा दिया था। तुमने ही चक्रवाक-चक्रवाकी का उस भव का हमारा प्रणय स्मरण कराया और तुम्हीं ने उस चक्रवाकी का इस भव का पता ठिकाना बताया, उसके मन के अतिशय प्रीतिभाव का परिचय दिया। आभारी हूँ मैं तुम्हारा"—हाथ जोड़कर मस्तक तक उठाते हुए पद्मदेव के नयन निमीलित हो गये। क्षणोपरान्त बोला—"आश्चर्य तो इस बात का है कि तुम सारसिके ! इस समय यहाँ कैसे ? क्या तुम्हें""

"मैं तुम्हारी प्रेयसी तरंगवती का प्रेम-संदेश लेकर आयी हूँ तुम्हारे पास ! तुम्हारी भाँति वह भी वियोग में तड़प रही है। आठों प्रहर तुम्हारा ही नाम, तुम्हारी ही चर्चा, तुम्हारे प्रेम की महत्ता का गान करती रहती है।" सारसिका ने कहा और मौन हो गयी।

मौन सारसिका पद्मदेव को बड़ी भली, बड़ी मनोहर, बहुत ही प्रिय लगी—प्रियतमा की प्रेम पाती सी। पद्मदेव का जी करता था कि सारसिका को प्रेरित-उत्साहित कर अपनी चक्रवाकी का प्रेम-संदेश सुन ले—तुरन्त सुन ले। वह अत्यन्त अधीर था—सब कुछ जान लेने को, उसका प्रीति-भरा चित्त छटपटा रहा था, किन्तु वह अपनने आन्तरिक उद्वेग को यों व्यक्त कर अधीरता का प्रदर्शन नहीं करना चाहता था। उसने प्रेमपूर्वक सारसिका को निहारा और अपने शान्त कक्ष की एक सुखद पीठिका पर बैठने का अनुरोध किया। बैठते हुए प्रेम-दूतिका सारसिका ने एक लम्बी साँस लेते हुए कहा—"बेचारी तरंग "क्या दशा हो गयी है उसकी। इस वैभव-विलास के जीवन की अपेक्षा वह पक्षी-भव कितना

सुखद था। न माता-पिता का बन्धन, न समाज का भय। स्वच्छन्दतापूर्वक वह अपने चक्रवाक के साथ वायु-विहार करती रहती थी। तरंग तो अपने उस उन्मुक्त जीवन को स्मरण करती रहती है और विलाप करती रहती है, आँसू बहाया करती है अपने इस क्लिष्टता भरे मानव जीवन पर। वह व्याकुल है अपने इस भव के चक्रवाक को प्राप्त कर लेने के लिए। उसे वह ऊँची उड़ानें याद आती हैं जो आकाश में उसे अपने प्रिय चक्रवाक के साथ दूर-दूर ले जाती थीं। उसे वे डुबकियाँ और वह संतरण भी याद आता है, गंगाजी के निर्मल-शीतल जल में जिसका आनन्द वह अपने प्रियतम के साथ लिया करती थी। वह नेह भरा चोंच मिलाना और वह कछार की रेती पर आपस में उछल-कूद करना। तरंग तो अपने चक्रवाक-भव की हर छोटी-छोटी बात को भी स्मरण करती है और उसकी सीपियों सी आँखें मोतियों से भर जाती हैं।

"सुनो पद्मदेव भैया", बड़े स्नेह के साथ पुकारते हुए सारसिका ने कहा—"वह तुम्हारी चक्रवाकी तुम को इस भव में भी अन्तरमन से चाहती है—तुम्हें प्यार करती है। तुम्हारे अतिरिक्त वह और किसी की हो ही नहीं सकेगी। वह किसी भी प्रकार से....."

"पर सारसिके! मैं कर ही क्या सकता हूँ। मैं तो ..." पद्मदेव को बीच में ही रोकते हुए सारसिका अपनी तर्जनी उँगली अपने बन्द होठों पर रखते हुए बोली—"सुनो, पहले मेरी बात सुन लो।" मूक होकर वह अपना सारा ध्यान सारसिका की ओर केन्द्रित कर बैठ गया। उसके नयनों में जिज्ञासा की चमक लहरा उठी थी। मुस्कराते हुए सारसी ने पुनः कथन आरम्भ किया—"तरंग को तुम पर बहुत विश्वास है अटूट विश्वास। इसी विश्वास के सहारे तो वह जी रही है। जब तुम्हारे पिता ने विवाह प्रस्ताव रखा और तरंग के पिता ने उसे ठुकरा दिया, तो वह बड़ी दुःखी हुई। मिलन के मार्ग में आयी इस भयानक बाधा को देखकर वह विचलित हो गयी—यह तो सत्य है, किन्तु निराश वह तब भी नहीं हुई। उसे अपने प्रियतम पर अटूट विश्वास जो है!! वह समझती रही है कि तुम अवश्य कोई मार्ग निकाल लोगे और मिलन को सम्भव बना लोगे। फिर तुम्हारी ओर से चुप्पी क्यों भला? कुछ करते क्यों नहीं? कब तक तुम दोनों वियोगाग्नि में यों झुलसते रहोगे?"

अपनी बात कहने को भीतर-ही-भीतर अकुलाया हुआ पद्मदेव अन्ततः

अपना मौन तोड़कर बोल ही पड़ा—"मैं मैं···भी बहुत उद्विग्न और व्याकुल हूँ—अपनी प्रियतमा से मिलने को, उसे प्राप्त करने को, पर समझ में नहीं आ रहा कि क्या करूँ। यदि मेरे पिता बाधा डालते तो मैं उन्हें किसी प्रकार मना भी लेता, आवश्यकता होती तो उनकी इच्छा की अवहेलना भी कर देता, विद्रोही हो जाता, पर अपनी रूपसी प्रेयसी को प्राप्त करके ही रहता। पर जो बाधा है—वह तुमसे भी छिपी नहीं है। मैं समझ नहीं पा रहा कि क्या किया जा सकता है?"—चिन्ता के साथ पद्मदेव का सिर झुक गया।

पद्मदेव भैया! निराश तुम्हें भी नहीं होना चाहिये। तुम तो पुरुष हो···तुमको ही तो मिलन के मार्ग को अबाध बनाना होगा! तुम्हें साहस से कार्य करना होगा—यही तुम्हारे प्रिय में तरंग सोचती है—यही उसका सन्देश है। उठो और कुछ करो कि तुम दोनों एक-दूसरे को प्राप्त कर सको। सांसारिक बाधाओं को पार करो···उनसे···उनसे डरो नहीं। प्रयत्न तुम्हीं कर सकते हो···तुम्हें ही करना होगा।"

एक क्षण रुककर जैसे सारसिका ने मन-ही-मन अपनी अगली बात को व्यवस्थित किया और बोली, "तरंग को अपने पूर्वभव के प्रेम पर गर्व है। उस दृढ़ अनुराग के आधार पर उसे इस जीवन में भी अपने प्रेम की सफलता का पक्का विश्वास है। उसे सन्देह इस बात का नहीं है कि तुम उसे इस भव में उतना प्यार करते हो या नहीं। उसे यह आशंका भी नहीं है कि उसे उसके प्रियतम नहीं मिल पाएँगे। वह तो चिन्तित इस बात को लेकर है कि तुम प्रयत्नहीन कैसे हो गये? कुछ करते क्यों नहीं तुम?"

इन दोनों की चुप्पी ने कमरे के सन्नाटे को और अधिक गहरा, घना कर दिया। पद्मदेव सोचने लगा था कि क्या मेरे ही किये कुछ हो सकेगा। क्या नियति, प्रारब्ध, भवितव्य कुछ भी नहीं है। संयोग से इसी बात को आगे बढ़ाते हुए सारसिका ने कहा—"नियति तुम लोगों का समर्थन कर रही है भैया, भाग्य तुम्हारे साथ है। गत कर्मों का अतीत ही भावी रूपरेखा का ताना-बाना बुनता है? पूर्वभव का सच्चा प्रेम रंग लाकर रहेगा। चक्रवाकी ने अपने प्रियतम की मृत्यु के पश्चात् न केवल शोक मनाया, वह तो अपने मृतक पति के साथ, उसी की चिता में जीवित जल मरी थी, स्वेच्छा से आत्मदाह किया था उसने। यह सहमरण था जिसने चक्रवाकी को सती बना दिया था और सती के लिए आगामी जन्म में उसी पति की

प्राप्ति अवश्यम्भावी होती है। इस भव में जब उसे अपने पूर्वभव के पति का पता ही चल गया है, तो फिर पतिरूप में उसे इस जन्म में भी प्राप्त कर सकना सम्भव हो गया है, सुनिश्चित हो गया है। उसे भरोसा मिलन पर भी है, उसे भरोसा तुम पर भी है। अब तुम्हें कुछ करना ही होगा"—अपने इस दीर्घ और महत्वपूर्ण कथन से कुछ थकित सी, सारसिका चुप होकर पद्मदेव के मुख पर उसकी प्रतिक्रिया ताड़ने का प्रयत्न करने लगी।

पद्मदेव के मन में आत्मविश्वास करवट लेने लगा था। उसके मुख पर दृढ़ता और निश्चय का भाव फैल गया था। उसकी मुट्ठियाँ भिंच गयीं और भौंहें तन गयी थीं। अपने प्रयत्न की सफलता पर मन ही मन सारसिका को गर्वानुभूति होने लगी थी। उसने पद्मदेव को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैंने अपना काम किया—सखी का प्रेम-सन्देश तुम तक पहुँचाना था—सो पहुँचा दिया। अब मुझे लौटना होगा"—वह खिड़की के बाहर के वातावरण को भाँपने का प्रयत्न करती हुई बोली—"प्रत्युत्तर में तुम कोई सन्देश अपनी प्रियतमा को पहुँचाना चाहते हो तो मुझे दे दो—आज ही पहुँचा दूँगी। वैसे वह आस लगाये बैठी होगी, तुम्हारे उत्तर की, तुम्हारे प्रेम-सन्देश की!"

पद्मदेव अपने स्थान से उठा। मौन संकेत से उसने सारसिका को प्रतीक्षा करने को कहा और स्वयं पत्र लिखने को बैठ गया। दीपक की लौ को उसने कुछ ऊँचा किया, कमरे में प्रकाश कुछ बढ़ गया—पद्मदेव के मन के उत्साह की तरह।

× » ×

मेरी आशा!

मेरे पूर्वभव की चक्रवाकी, इस जन्म की मेरी प्रेयसी तरंग—अब तो हमारा जीना और मरना संग-संग। तुम्हारा प्रेम-सन्देश मेरे लिए नव-जीवन लेकर आया, अन्यथा मैं तो निराशा के समुद्र में डूब ही रहा था, अन्तिम साँसें चल रही थीं। सचमुच आज की रात्रि मेरे लिए काल-रात्रि थी। मैं अपना प्राणान्त ही किया चाहता था कि तुम्हारे सन्देश ने मुझे उबार लिया। अब मेरी समझ में आ गया है कि वह जीवन ही क्या जिसमें बाधाएँ न हों और वह क्या मनुष्य जो आधाओं से जूझना न जानता हो। संघर्ष ही सफलता का जनक है।

मेरा विश्वास आज पुष्ट हो गया कि तुम भी मेरे प्रति उतना ही

प्रेम रखती हो जितना मेरे मन में तुम्हारे प्रति है, अपितु उससे कुछ अधिक ही। सच मानो तरंग, मैं निरन्तर आकुल-व्याकुल रहा हूँ, जब से मैंने तुम्हारे रचे चित्रों को देखा। चित्रों ने ही मुझे पूर्वभव की स्मृति हुई। मैंने अपने आप को पहचाना कि मैं ही पूर्वभव का वह चक्रवाक हूँ। इस प्रदर्शनी ने ही मुझे तुम्हारी अतिशय प्रेमाकुलता का आभास कराया था। तुमने मेरे मरण के पश्चात एक दिन क्या भी जीवन नहीं भोगा। सहमरण के ऐसे प्रेमिल उद्धरण क्या यों ही मिल जाते हैं! तुमने जो किया वैसा भला किस प्रेमिका से सम्भव है। तुम्हारी वह उत्कृष्ट प्रीति पाकर मैं धन्य हो उठा हूँ तरंग! ऐसा सौभाग्य किसी-किसी प्रेमी का ही होता है।

तुमने मेरे बुझते हृदय-दीप को पुनः प्रज्वलित किया है तरंग। मैं वचन देता हूँ कि अपने पारस्परिक प्रेम के निर्वाह के लिए मैं कोई कसर नहीं छोड़ूंगा। तुमने सत्य ही माना है कि तुम्हारा पूर्वभव का सतीत्व इस जीवन में हमारे दाम्पत्य को सुनिश्चित करता है। मैंने यह विश्वास पाकर आत्महत्या का मार्ग त्याग दिया है। हम मिलन के लक्ष्य में सफल होकर रहेंगे। मिलन हमारा प्रारब्ध है, हमारा सुखद स्वप्न है जो साकार होकर ही रहेगा। तुम्हारा वह बलिदान मिथ्या नहीं हो सकता, अकारथ नहीं जा सकता। मैं तो धन्य हो हो गया हूँ तुम्हारा ऐसा एकनिष्ठ, ऐसा आत्मीय, ऐसा सघन प्रेम पाकर।

ऐसे प्रेम को मैं पाकर खो दूँ—ऐसा नहीं हो सकता, मेरी चक्रवाकी तुम्हारा चक्रवाक ऐसा कभी नहीं कर सकेगा। मुझे तुम्हारा सम्बल चाहिये—वह जब मुझे मिल ही गया तो अब मैं सब कुछ सम्भव कर दूंगा। तुम्हारी सखी ने बताया है तरंग, मेरे लिए तुम बड़ी व्याकुल रहती हो। पुनर्मिलन को तुमने अपना लक्ष्य बना रखा है - मुझ से आस लगाए बैठी हो कि मुझे कुछ करना चाहिए—तुम ऐसा मानती हो—तुम्हारा यह विश्वास मुझे सब कुछ दे गया है। हाँ, मेरी चक्रवाकी हाँ, मैं तुम्हारा विश्वास पूर्ण करूँगा। हमारे मिलन के सपने को मैं आकार दूंगा। मेरे किये ही तो अब कुछ होने वाला है। अच्छा ही किया तुमने कि हमारे उस पक्षी जीवन की प्रणय-कथा तुमने उजागर नहीं होने दी। बहुत अच्छा किया है तुमने यह। मेरे पिताजी के प्रस्ताव को ठुकरा देने के बाद यदि अब यह प्रसंग छेड़ा जाता तो तुम्हारे पिताजी इस पर रंच मात्र भी भरोसा नहीं करते। समझते कि अवसरवाद बनाने की यह नयी चाल चली

जा रही है। हो गये चकवा-चकवी—पिछले जनम के हुँह"""। हमारी समस्या और उलझ जाती चक्रवाकी ! वह पावन प्रणय-प्रसंग खोलने का समय कभी आ तो सकता है—अभी वह आया नहीं है।

प्रेयसी तरंग अब मैं ही कुछ करूँगा। मुझे तुमने साहस दिया है, वह व्यर्थ न जायगा। तुमने मुझे मेरी शक्ति और क्षमता का परिचय करा दिया है—जिसे मैं भुला ही बैठा था। मेरा आत्मविश्वास अब जागृत हो गया है—मैं तुम्हें पाने के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहूँगा। यदि आवश्यक हुआ तो महाराज उदयन से तुम्हारे पिताजी को आग्रह करवाऊँगा। अब कुछ ही समय का विछोह शेष रह गया है—इसे धैर्य से, विवेक से काट लो। पिछली रजनी की इन अँधेरी घड़ियों को सुखद मिलन की प्रतीक्षा में व्यतीत कर लो। सौभाग्य का सूर्योदय अब समीप ही है। भला भोर को कोई कभी रोक सका है—हमारा पुनर्मिलन भी होकर ही रहेगा।

हमारी प्रीति दृढ़तर होती रहे—मार्ग की सभी बाधाएँ दूर हों—हम साहचर्य्य पाएँ, यही कामना है—

तुम्हारा विश्वास
पद्मदेव : चक्रवाक

"उस नीरव निशा में तरंग वह पाती पढ़ती जाती थी"—सेठानी सोमावती "और अश्रु बहाती जाती थी"—साध्वीजी ने कहा—"और ये आँसू दुःख के नहीं, प्रेम के थे, आनन्द के थे। तरंग को लगा कि उसका प्रियतम उसे भूला नहीं है, वह उसे चाहता है, वह भी मिलनाकांक्षी है, वह पुनर्मिलन के लिए सचेष्ट भी है। तरंग को आन्तरिक सन्तोष हुआ। सारसिका समझती थी अपनी सखी की मनोदशा को। वह शान्त भाव से देखती रही।"

प्रेम सन्देश पाकर तरंग प्रफुल्लित थी, उल्लसित थी। उसे किसी प्रकार का कोई अवसाद नहीं रह गया था। उसका तन-मन प्रेम रस से सिक्त हो चला था। वह बार-बार पाती पढ़ती और मुग्ध भाव से मुस्कराती रहती। उसकी निराशा अब हट गई थी। बड़ी देर बाद वह सखी से बोली —"प्यारी सारसी ! तूने आज वह काम कर दिखाया है जो संसार की कोई सखी अपनी सखी के लिए नहीं कर पायी होगी। मैं तेरी बड़ी"""कहते-कहते वह फफककर फिर रो पड़ी। उसकी बात अधूरी रह गयी।

"ओफ्फोअ ! अब बन्द भी कर ये सब"—कोमलता के साथ प्यार-

सिका ने कहा—"हमारे मध्य भी क्या इस प्रकार की कोई औपचारिकता"" बीच ही में तरंग बोल उठी—"औपचारिकता नहीं सारसी, तू वास्तव में एक सच्ची सखी है। इतना किया है तूने मेरे लिए।" तरंग की पलकें फिर भारी होने लगीं। तभी सारसिका ने उसे प्रबोधन के स्वर में कहा—"क्या किया है मैंने, हाँ ऐसा ही है तो तू भी मेरा प्रियतम खोज लाना। मैंने यही तो किया है। बात बराबर हो जायगी।" विनोद के इस वातावरण में दोनों सखियों के हृदय हल्के-फुलके हो गये। क्षीण हास्य की रेखाओं ने उनके अधरों को आभायुक्त कर दिया। तरंग ने तभी अपने जी की बात कही—"सारसी, उनके मन में अतिशय प्रेम भाव है—मेरे लिए। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि वे मिलन के लिए इतने ही उतावले हैं, जितनी मैं हूँ। पर सुन, मुझे लगता है कि उनके प्रयत्नों से भी बात कुछ बनने की नहीं है। उनकी ओर से तो सब कुछ सुगमता से हो गया, बात तो हमारे ही पक्ष में अटकी हुई है। उनके वश में है ही क्या ?"—तरंग इतना कह चिन्तन की मुद्रा में कुछ थमी और सारसिका की प्रतिक्रिया जानने के प्रयत्न में वह उसकी ओर ताकने लगी। अनुमोदन की भंगिमा में गम्भीरता के साथ सखी ने तरंग से कहा—"बात तो तू ठीक कहती है। पर पर हम और कर क्या सकती हैं ?"

"करना अब हमें ही होगा सारसी, हमें ही सब कुछ करना होगा" सहसा तरंग के मुखमण्डल पर आत्मविश्वास की दृढ़ता लहरा उठी। वह बोली—"जन्म-जन्मान्तर की प्रीति किसी की इच्छा-अनिच्छा की दासी तो नहीं हो सकती। माता-पिता की अनुमति हो ऐसे प्रेम का आधार नहीं हो सकती तो वह उनकी असहमति से रुक भी नहीं सकता। हमारा प्रेम—हमारा मिलन हमारा अपना है—किसी का वशवर्ती होकर वह विफल हो जाय—ऐसा न हो सकेगा और न मैं ऐसा होने दूँगी।" आवेश के कारण तरंग की साँस जैसे वक्ष में समा नहीं रही थी। उसके नेत्रों में एक अद्भुत आभा थी। तरंग के स्वर में विद्रोह की खनक पाकर सारसिका सहसा चौंक उठी। जिज्ञासावश वह पूछ बैठी—"ऐसा ? तो तू क्या करना चाहती है ? विचार क्या है तेरा ?" प्रश्न उत्तरापेक्षी था, किन्तु उत्तर को अपने पास आरक्षित रखते हुए तरंग ने इतना ही कहा—"तू मुझे अभी उनके पास ले चल सारसी, इसी समय। तुझे सब कुछ पता चल जायगा कि मेरी योजना क्या है ? प्रेम पवित्र बन्धन है। इसका निर्वाह किसी भी रूप में अपयश का कारण नहीं बन सकता। विश्वास रख मेरी सखी—विश्वास रख, मैं कोई

मर्यादाहीनता नहीं होने दूंगी। तू मुझे एक बार उनसे मिलवा दे!"—कथन समाप्त करते-करते तरंग ने अपनी पलकें झुका लीं।

इस विचित्र परिस्थिति में सारसिका अपनी भूमिका निश्चित नहीं कर पा रही थी। उसे समय-परिस्थिति को भी देखना था, तरंग के अनुरोध को भी आदर देना था। मध्य रात्रि बीत चुकी थी। ऐसे में क्या तरंग को पद्मदेव के यहाँ ले जाना उचित होगा। बात यदि खुल गयी तो इसके न जाने क्या-क्या मिथ्या अर्थ लगाये जायेंगे। कितने ही प्रकार के प्रवाद फैल सकते हैं—पारिवारिक समस्याएँ उठ खड़ी हों—यह भी आशंकित था। विवेकशील व्यक्ति आगा-पीछा सोचकर ही कार्य करता है, किन्तु विवेकहीन तरंग भी नहीं थी। उसने सखी को विचार-मग्न देखकर पूछा—"किस सोच में पड़ गयी है मेरी सखी, चलना नहीं है? अब व्यर्थ ही समय नष्ट करना हितकर नहीं होगा, चल, हमें।" तरंग की आतुरता का अनुमान लगा कर तो सारसिका और भी त्रस्त हो उठी, बोली—"तरंग! जरा सोच, अभी रात्रि के इस प्रहर में बाहर निकलना क्या ठीक होगा? क्या कल तक हम इसे" उसकी बात अपूर्ण ही रह गयी। बीच में ही दृढ़ वाणी में तरंग बोल उठी—"नहीं···नहीं सखी अगर आज अभी नहीं; तो फिर कभी नहीं!! समझी? कल तक की प्रतीक्षा मेरे वश में नहीं। यदि उनसे आज इसी रात्रि में मिलना सम्भव नहीं··तो मेरा जीवन भी सम्भव नहीं। आज ही मैं अपना प्राणान्त कर लूंगी। प्रवाद तो तब भी फैलेंगे। तुझे अपनी प्यारी सखी खोनी पड़ेगी सो अलग से। मुझे इस रजनी में तेरी सहायता की आवश्यकता है सारसी··· मेरी सहायता कर।" उसके मुख पर बेबसी का भाव और अधरों पर अनुनय-विनय फैल गयी थी। कुछ क्षण तो सारसिका किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी अचंचल बैठी रही। जब तरंग ने उसे झकझोरते हुए पूछा—"क्या निश्चय किया है तूने? तुझे अपनी सखी चाहिए या ··?" तो वह मौन नहीं रह सकी, बोली—"मैंने कब ना किया है! चलना है तो चलना ही है। उठ, तू तैयार हो जा।"

तरंग अपने भीतरी कक्ष में गयी और सारसिका अपने विचारों में खो गयी। कुछ ही समय में जब तरंग बाहर निकली तो वह असाधारण सुन्दर लग रही थी। सोलह शृंगार कर उसने मूल्यवान हीरक आभूषण धारण किये थे। रूपसी तरंग इस रजनी में अप्सरा सी दिव्य-भव्य प्रतीत हो रही थी। विचार-तन्द्रा से जब सारसिका को उसने जगाया तो वह भी

इस अलौकिक छटा को देखकर मुग्ध हो गयी। 'अरे वाह!' कहकर वह कुछ और कहना ही चाहती थी कि उसका कंधा पकड़कर तरंग ने उसे आगे धकेल दिया—"अब चल भी, क्यों समय नष्ट करती है!" दोनों सखियाँ श्रेष्ठी भवन के गुप्त मार्ग की ओर अग्रसर हो गयीं जो नगर में दूर किसी वीथी में खुलता था। तरंग का हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। दोनों मौन अपने-अपने विचारों में खोयी आगे बढ़ती रहीं। किसी ने किसी को व्यवधान नहीं पहुँचाया। दीपक का मद्धिम प्रकाश मार्ग दिखाता साथ-साथ चलता रहा।

११

असीम वैभव-विलास का साक्षी, सुसज्जित कक्ष कलात्मक स्पर्श से और भी आकर्षक हो उठा था। वातायन में झूलते रेशमी परदे मन्द पवन के झोंकों में फरफरा रहे थे। सुव्यवस्था के साथ सारी वस्तुएँ मनोहारी लगती थीं। मखमल-मढ़ी एक दीर्घ पीठिका पर आसीन पद्मदेव वीणा-वादन में तल्लीन था। वह कला विशारद-कवित्व और संगीत के अद्भुत मेल का प्रतीक हो गया था। वीणा की झनकार से शान्त रात्रि का वातावरण सरस हो उठा था। आज एक लम्बे अन्तराल के पश्चात पद्मदेव ने वीणा उठायी थी। उसका मन आज बड़ा प्रफुल्लित था। प्रेयसी की प्रीति-पाती जो उसे मिली थी। मनोयोगपूर्वक वह कोई सुन्दर रागिनी वीणा के तारों की कम्पन से साकार करता जा रहा था। भाव-विभोर कलाकार इस जगत से दूर कलालोक में ही मानो विचरण कर रहा था। उसकी पलकें मुँदी हुई थीं। उसकी समस्त चेतना अन्तर्मुखी हो उठी थी।

वादन-समापन पर तीव्र झनकार के साथ कलाकार पद्मदेव के नेत्र खुले। क्रमशः उसकी चेतना बाह्य वातावरण से सम्बद्ध होने लगी—वह कलालोक से निकलकर जब इहलोक में प्रवेश करने लगा तो उसने सहसा सारसिका को पुनः अपने समक्ष पाया। उसके विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। सोचने लगा—कदाचित् मेरे पत्र का उत्तर ही लेकर आयी हो, किन्तु इतनी उतावली क्यों? इस असमय में पुनः आना···अवश्य कोई विशेष बात होनी चाहिये। सहसा विस्फारित नेत्रों से उसने प्रश्नवाचक दृष्टि के साथ सारसिका को निहारा। सहसा वह अवाक् सा बैठा रह गया कोई बोल उसके मुख से फूट नहीं सका।

सारसिका को ही आरम्भ करना पड़ा—"कलाकार जी! चौंकिये नहीं विस्मय भी नहीं कीजिये। आज इस कुबेला में भी मुझे दुबारा आना पड़ा···"

"लाओ सारसिके, लाओ ···मेरे नाम चक्रवाकी की प्रेम-पाती लाई हो ना ! लाओ दो मुझे दो ना !"—पद्मदेव चंचल हो उठा था। लपककर वह तुरन्त सारसिका के समीप पहुँच गया और हाथ फैलाकर खड़ा हो गया। उसके नेत्रों से जैसे अनुनय-विनय झलक रही थी।

"तुम्हारे नाम कोई पाती-वाती नहीं लायी हूँ। नहीं लायी हूँ कोई पाती अधीर क्यों होते हो ? आओ, मैं तुम्हें ले चलती हूँ। आओ मेरे साथ मेरे साथ आओ"—कहती हुई सारसिका तनिक मुड़ी ही थी कि उसे टोकते हुए पद्मदेव ने पूछ ही लिया—"कहाँ जाना होगा ? इस समय तुम कहाँ लिये जा रही हो···कुछ पता तो चले कि बात क्या है ?"

"मैं तुम्हें अधिक दूर नहीं ले जाऊँगी। आओ कुछ चरण मेरे पीछे चले आओ···फिर तो तुम स्वतः ही दौड़े चले जाओगे। आओ ···चलो" कहते हुए सारसिका उसे हाथ पकड़कर, बरबस खींचकर द्वार के बाहर तक ले आयी। दीप स्तम्भ के चम्पई उजाले में एक नारी मूर्ति नीचे उद्यान में खड़ी थी। उस ओर हाथ का संकेत करती सारसिका बोली—"जाओ चक्रवाक जाओ, वह नीचे तुम्हारी चक्रवाकी प्रतीक्षा कर रही है। जाओ मिलो उससे जाकर। जाओ !"

सहसा इस नवीन परिस्थिति ने उसे किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया, ठिठक कर वह खड़ा रह गया। उसे अकेलती सी सारसिका ने कहा—"अब संकोच न करो, वह तुम्हारे कक्ष में नहीं आएगी, तुम्हें ही तरंग से मिलने को नीचे जाना होगा—खुले आकाश के तले ही वह तुम से भेंट करेगी। जाओ, अब न तरसाओ उसे।"—इतना कहकर सारसिका भीतर लौट आयी और पद्मदेव एक-एक चरण बढ़ाता उद्यान में पहुँच गया। सारसिका ने वीणा उठा ली और उस पर कोई राग बजाने लगी। बड़ी देर तक वह वीणा-वादन करती ही रही। सहसा उसे लगा, जैसे किसी ने बाहर से उसे पुकारा हो--वादन रोककर वह ध्यान से सुनने का प्रयत्न करने लगी। सचमुच ही पद्मदेव दबे स्वर में उसे पुकार रहा था। वह वीणा रखकर उठी और लपक कर नीचे उतरी। पद्मदेव और तरंग प्रकाश स्तम्भ के पास ही दूब पर बैठे थे। सकेत पाकर वह भी कुछ दूरी पर बैठ गयी। कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त तरंग ने ही कथन आरम्भ किया—"सारसी ! हमने निश्चित किया है कि हम दोनों आज ही इसी अँधेरी रात्रि में अपने-अपने परिवार त्याग देंगे—यही नहीं कौशाम्बी छोड़-

कर कहीं चले जायेंगे। हमें तुम्हारी सहायता अब तक मिलती रही है, अब तुम्हारी शुभकामनाएँ चाहिये।"

सारसिका सहसा हतप्रभ ही रह गयी। यह कैसा निश्चय ? क्या इसके बिना, किसी अन्य उपाय से काम बनने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं ? "और कोई मार्ग ही शेष नहीं बचा है सारसिके !" सारसिके के सोच का उत्तर मिल गया। पद्मदेव कह रहा था—"हमारा चक्रवाक-चक्रवाकी वाला प्रेम स्वच्छन्द था। कहाँ उस जन्म में हमारा विवाह हुआ था। जहाँ विवाह होते हैं, वहाँ सच्चा प्रेम विकसित हो जाय —कोई अनिवार्यता तो नहीं है इसकी, फिर क्या आवश्यक है कि प्रेम के लिए विवाह भी हो ही। हमारे गुरुजन विवाह के प्रश्न पर ही तो सहमत नहीं हो रहे हैं। यह परिस्थिति क्या हमारे जन्म-जन्मान्तरों के प्रणय को ध्वस्त कर देगी ? क्या हमें ऐसा होने देना चाहिए ?" पद्मदेव के स्वर में अनुराग की स्निग्धता भी थी और निश्चय की दृढ़ता भी।

तरंग ने कहा—"सारसी, भयभीत न हो। हमारा यह निश्चय गलत नहीं है ? अब इसके अतिरिक्त कोई समाधान ही नहीं है। पिताजी इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करेंगे कभी नहीं करेंगे। पर क्या हमारा पावन अनुराग किसी के चाहने से चले और न चाहने से रुक जायगा ? तू तो विवेक-शील है मेरी सखी ! मेरी कठिन परिस्थितियों से परिचित है, तुझसे बढ़कर मेरा हाल जानने वाला और कौन हो सकता है ? तू ही कह, क्या हमने कोई अनुचित निर्णय लिया है ?" उत्तर की प्रतीक्षा में तरंग मूक हो गयी। सारसिका गंभीर मौन बैठी रह गयी। उसे सुझायी नहीं दे रहा था कि वह क्या उत्तर दे, तभी तरंग ने उत्साहित किया—"मौन न रह जा सखी, तुझे अपना मत बताना होगा। तेरे परामर्श का सर्वाधिक मोल है। तेरे अनुमोदन से ही हम यह कदम उठायेंगे। बोल कोई अन्य मार्ग तेरी समझ में ।" तरंग के कथन की समाप्ति के पूर्व ही उद्विग्न सी सारसिका बोल पड़ी, "अन्य कोई मार्ग नहीं""कोई मार्ग नहीं सखी ! प्रेम का निर्वाह तो प्रेमी युगल का ही, अपना दायित्व है। वे ही इसे निभाएंगे। जैसे भी निभ जाय वैसा आचरण करना इस मार्ग में उपयुक्त है, मैं भी ऐसा ही मानती हूँ। किसी की दया या कठोरता; समर्थन या विरोध प्रेम-निर्वाह में कोई भी भूमिका नहीं रखता। सच्चे प्रेमी इस प्रकार पराश्रित नहीं होते—नहीं रह सके हैं, मेरी सखी !" दोनों सखियाँ परस्पर वार्तालाप करने लगी थीं और पद्मदेव ऊपर चला गया था।

"तेरी दो टूक बात ने मुझे बड़ा सम्बल दिया है, सारसी ! अब हम किसी भी कठिनाई से जूझने की शक्ति रखते हैं।" तरंग आत्मविश्वास के साथ बोली - "तेरे अनुमोदन से हमें हमारे निश्चय के औचित्य का विश्वास हो गया है सखी ! हम अनीति के मार्ग पर नहीं हैं, हमने कोई निश्चय मात्र भावुकता से नहीं कर लिया है, विवेक-संगत है वह—इसका विश्वास हो गया है मुझे। अब पूर्वभव के चक्रवाक और चक्रवाकी अपनी उसी सघन प्रीति का अपने नवीन मानव-भव में निर्वाह कर लेंगे—इतना निश्चित हो गया है।" इतना कह, तरंग मौन हो गयी। सारसिका का मन उद्वेलित हो रहा था। वह जानती थी कि तरंग और पद्मदेव जो आचरण करने वाले हैं—उसमें पवित्रता है, उसमें अनीति भी नहीं है, किन्तु जन सामान्य को ये सारी सूक्ष्म बातें कहाँ मालूम होंगी—कौन चिन्ता करेगा यह सब जानने की और कौन व्याख्या करेगा इस सबकी। सबके सामने तो इनका धर्म होगा—केवल ऊपर-ऊपर दिखायी देने वाला इनका आचरण होगा - भाग गये दोनों या वह उसे भगा ले गया—इस आशय की चर्चाएँ ही शेष रह जायेंगी इससे क्या इनका - इनके परिवारों का अपयश नहीं होगा। "एक बात है"—उसके मन में एक विचार आया। उसे प्रकट करते हुए वह बोली—"तरंग ! यह तो सत्य है कि चक्रवाकी-चक्रवाक के रूप में तुम दोनों में प्रेम ही प्रेम रहा - प्रेम के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वच्छन्द, उन्मुक्त प्रेम—ऐसा प्रेम जो विवाह-बंधन से भी मुक्त था। किन्तु वह तुम्हारा पक्षी-जीवन था। यह मानव भव तुमसे कुछ अन्य अपेक्षाएँ भी रखता है तरंग ! मेरा परामर्श मान ले....शीघ्र ही पद्मदेव के साथ तुम्हारा विवाह हो जाना चाहिए। फिर तुम्हारे मध्य किसी भी प्रकार की कोई बाधा शेष नहीं रहेगी। कोई भर्त्सना, कोई प्रवाद.... किसी के लिए कोई अवकाश नहीं रह जायगा। अच्छा होता कौशाम्बी-त्याग के पूर्व ही तुम इस पवित्र बन्धन में बँध जाते। अभी तो तू दुल्हन जैसी ही लग सी रही है।" इस वाक्य ने गंभीर वातावरण को भी कुछ सरस बना दिया। तरंग ने कुछ लजाते हुए सारसिका को 'धत्त्' के आशय के साथ कुछ धकियाया और मुस्कुराती हुई दूब को देखने लगी। सारसिका बोली—छोड़, यह तो विनोद था, किन्तु एक बात गांठ बाँध ले जिस प्रकार का भी सभव हो विवाह तुम अवश्य कर लेना इसमें चूक न रहने पावे।" सारसिका ने देखा—तरंग ध्यानमग्न स्थिर दृष्टि से उसी की ओर ताक रही थी। गर्दन के हल्के से झटके के साथ उसने सखी के परामर्श में

औचित्य ही नहीं स्वीकारा—उसके पालन का आश्वासन भी दे दिया और तत्काल उसका सिर कुछ झुक गया।

सहसा उसे कुछ ध्यान आया और वह ऊपर पद्मदेव के कक्ष के खुले वातायनों की ओर देखने लगी। उसका मनोभाव ताड़कर सारसिका बोली—"क्या बात है, पद्मदेव अभी तक आये नहीं।" निश्चिन्तता का पुट अपने स्वर में देती हुई तरंग ने कहा—आ जायेंगे "तैयारी करने में कुछ समय तो लग ही जाता है न! तू मेरा एक काम तब तक और कर दे!" तरंग ने अनुरोध किया—"वे ऊपर से आएँ तब तक तू जाकर मेरी सन्दूक में से कुछ आभूषण और ले आ। परदेस का प्रवास है। कौन जाने कैसी परिस्थिति हो। पास होने से ठीक रहेगा।"

सारसिका के चले जाने पर उद्यान में तरंग अकेली रह गयी। उसने अनुभव किया कि कहीं से रात रानी की भीनी-भीनी गन्ध आ रही है। खोजने पर उसे मिल भी गयी—पास ही थी। कोमल लचीली शाखों पर छोटे-छोटे सुन्दर फूल खुशबू से सने मुस्कुरा रहे थे। उसने कुछ टहनियाँ तोड़ लीं, उन्हें आपस में जोड़ने में वह जुट गयी। "यह क्या हो रहा है?" पद्मदेव की वाणी से सहसा चौंक गयी तरंग। वह पूछ रहा था कि सारसिका कहाँ चली गयी है। "आ जायगी वह भी, आने ही वाली होगी"—बेफिक्री के साथ उत्तर देती हुई तरंग ने कहा—"आओ नगर-त्याग से पूर्व हम एक-दूसरे के हो जायँ। यह भी एक आवश्यक कार्य है।" कहते हुए रातरानी की टहनियों से बना एक हार उसने पद्मदेव को थमा दिया, दूसरा स्वयं लेकर खड़ी हो गयी। पद्मदेव कुछ समझ नहीं पा रहा था कि यह हो क्या रहा है? तभी तरंग ने कहा—"आओ हम विवाह कर लें और अपने हाथों की माला उसने बड़ी ही कोमलता के साथ पद्मदेव को धारण करा दी और मुस्कुराते हुए, नयन झुकाये खड़ी रह गयी। अब पद्मदेव की बारी थी, उसने भी तरंग को माला पहना दी। "लो हमारा गांधर्व विवाह हो गया—अब हम युगल हो गये, दम्पत्ति। अब हम कहीं भी साथ-साथ जा सकते हैं।"—तरंग ने कहा।

उत्साहित पद्मदेव ने गठरी उठायी और प्रस्थान की मुद्रा में बोला, "तो चलिये राजरानी! अब चलना चाहिए, बहुत विलम्ब पहले से ही हो गया है अब शीघ्रता कीजिये।" और उमंगित तरंगवती उसके साथ हो ली। दोनों अपने नवीन पथ पर आरम्भिक डग भरने लगे, पूरे आत्म-विश्वास के साथ। दोनों के गलों में रात-रानी के फूल महक रहे थे।

× × ×

कौशाम्बी के पथ अब भी सूने थे, अब भी अन्धेरे में डूबे थे। प्रेमी युगल इन्हीं मार्गों पर होता आगे बढ़ रहा था। हाथों में हाथ, आँखों में नवजीवन का सपना, पाँवों में स्फूर्ति और मन में उत्साह था। दोनों अपने अपने विचारों में खोये शान्त-गम्भीर चलते चले जा रहे थे। पद्म और तरंग—तरंग और पद्म दोनों यमुना की ओर बढ़ रहे थे। सहसा तरंग को स्मरण हो आया बेचारी सारसिका आयी होगी। निराश लौट जाना पड़ा होगा। कितना कहा था इनको, किन्तु ये तो एक क्षण भी वहाँ रुक कर प्रतीक्षा करना नहीं चाहते थे। अपनी सहेली से मैं गले भी नहीं मिल सकी। इसी समय आकाश में बिजली कौंधी और कड़क के साथ मेघ गर्जना हुई। तरंग सहम गयी। मारे भय के वह पद्मदेव से सटकर चलने लगी। वर्षा कभी भी हो सकती थी। कुछ ही दूरी पार करने पर जमना जी की लहरों की ध्वनि सुनायी देने लगीं। तरंग को जमनाजी की समीपता का आभास होने लगा। तरंग और जमना का बड़ा भावनात्मक संबंध रहा है। दोनों ही एक-दूसरे की इस कोमल सम्बद्धता से परिचित थीं। अब तो तरंगवती की गति तीव्र हो गयी। पद्मदेव तो इस प्रतीक्षा में ही था। दूर-दूर तक अन्धेरे के अतिरिक्त कुछ दिखायी नहीं देता था। सार्थवाह पद्मदेव का तो यह सारा क्षेत्र परिचित था। उसका व्यवसाय ही यहीं से होता था। एक घाट पूरा ही उसका था। उसकी नौकाएँ वहीं रहती थीं। पिछली रजनी के इन शान्त प्रहरों में पद्मदेव तरंग के साथ अपने ही घाट पर पहुँचा और चुपचाप एक नौका खोलकर उसका रज्जू लपेट कर नौका ही में रखी और तरंग को शीघ्रता से चढ़ने को कहा। स्वयं सहारा देकर उसने तरंग को डगमगाती नौका में बिठाया। डरती-सिहरती तरंग सिकुड़कर बैठ गयी और मन ही मन जमुना मैया की प्रार्थना करते हुए उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। ठीक इसी समय नौका आगे बढ़ने लगी। तरंग ने होठों ही होठों में जमुना मैया का जय-जयकार किया। पद्मदेव स्वयं ही चप्पू चला रहा था। तट से काफी दूर निकल जाने पर ही वह आश्वस्त हुआ किसी ने उसे देखा नहीं—यह अच्छा हुआ। रात ही रात में वह पर्याप्त दूरी पार कर लेना चाहता था। तरंग भी अब स्वस्थता अनुभव करने लगी थी।

भोर के समीप होने के संकेत मिलने लगे थे। पूर्व दिशा में कुछ उजाला प्रसारित होने लगा था। मेघों का आच्छादन भी विरल होने लगा था। तटों की दृश्यावली भी अब जैसे तिमिर के आवरण से मुक्त होकर

प्रकट होने लगी थी। पर्वतों की गोद में फैली वनश्री बड़ी सुन्दर लग रही थी। दूर-दूर तक वन्य फूलों के बूटे दिखायी देते थे। दूर पर्वत शिखर के आस-पास अरुणिमा फैलने लगी थी। वनों के पंछी चहचहाने लगे थे। तरंग ने प्रातः बेला में अपने जीवन साथी का मुख-दर्शन किया और हाथ जोड़े, नयन मूंदे ध्यानस्थ हो गयी—अपने पति के कुशल-मंगल की कामना-प्रार्थना करने लगी। आँख खुली तो उसने जमुना मैया को नमन किया। आचमन कर पवित्र जल को सिर-आँखों पर लगाते हुए मुस्करा कर उसने पद्मदेव को निहारा, बोली—"जमुना मैया की मुझ पर अतिशय कृपा है, तुम जानते हो या नहीं। मेरा तो जन्म ही जमुना जी के आशीर्वादों से हुआ। इसी कारण मेरा नाम भी तरंगवती रहा है।" और उसकी दृष्टि दूर-दूर तक फैले जल पर प्रसारित होने लगी।

"तरंगवती···" कहकर पद्मदेव तनिक मुस्कुरा दिया। "हाँ, इस विषय में तनिक सारसिका ने उल्लेख किया था। तुम तो तरंगवती अर्थात् जमुना का ही एक रूप हो। अच्छा है गत जीवन में गंगाजी का सहचर्य सुलभ हुआ था, इस जीवन में जमनाजी का। मैं तो धन्य हो उठा तरंग!" दोनों की दृष्टियों का विनिमय हुआ। आल्हादित तरंग ने जानकर अपनी दृष्टि अन्यत्र मोड़ दी। उसके आरक्त कपोलों में हास्य के फूल खिलने लगे थे। चप्पू अब भी चलता रहा, नौका अब भी आगे बढ़ती रही। पंछी चहचहाते रहे, तरंग का मन-मयूर नाचता रहा।

卐卐

१२

"कथा का अगला भाग तनिक भयानक है, सेठानी सोमावती ! तुम डर न जाना, हाँ !"—इस संक्षिप्त सी भूमिका के साथ तरुणी साध्वीजी ने कथा पुनः आरम्भ की। भय और उत्सुकता की मिश्रित भाव-भंगिमा के साथ सोमावती भी सुनने को तत्पर हो गयी। साध्वी जी कहने लगीं—

गहन अंधेरी पर्वत कन्दरा के भीतर एक लम्बा रास्ता। कुछ-कुछ दूरी पर उल्काएं जल रहीं थीं, उन्हीं के क्षीण प्रकाश में पैर रखने जितना रास्ता दिखायी दे जाता था। बड़ी कठिनाई से तरंग और पद्मदेव अनेक दुष्टों से घिरे हुए इस रास्ते से गिरते-पड़ते आगे बढ़ने को विवश थे। खूंखार दुष्ट भयानक चिल्लाहट के साथ इन्हें तीव्र वेग के लिए प्रताड़ित करते जा रहे थे। अन्ततः वे उस स्थल पर पहुँचे जहाँ मार्ग की संकीर्णता कुछ फैले हुए प्रांगण में परिवर्तित हो गयी थी। सामने ऊँचाई पर चट्टान तक पहुंचने के लिए कुछ सीढ़ियाँ भी बना दी गयी थीं। सिंहासन के चारों ओर कुछ उल्काएँ प्रज्वलित थीं और कुछ प्रांगण की दीवारों से लगी हुई थीं। सिंहासन की ओर की दीवार में एक कौने में दरवाजा बना था, जिससे होकर पीछे की ओर जाने का रास्ता था। सिंहासन के सामने प्रांगण के बीचोबीच कुछ ऊँचा स्थान बना था। इस पीठिका पर तरंग और पद्मदेव को खड़ा कर दिया गया था। लोह-शृंखलाओं से जकड़े हुए दोनों सिर झुकाए खड़े थे। दोनों के पास दो-दो नौजवान नंगी तलवारें उठाये चौकस खड़े थे। सीढ़ियों के समीप छोटा सरदार तनकर खड़ा था।

सहसा सामने वाले दरवाजे से प्रकाश झलकने लगा। यह इस बात का सूचक था कि बड़ा सरदार अब आने ही वाला था। भीतर से तभी एक जवान बाहर निकला और तुरही बजाता हुआ सारे प्रांगण का चक्कर लगा कर सीढ़ियों के पास खड़ा हो गया। उधर दरवाजे से दो उल्काधारिणी

स्त्रियाँ निकलीं और दरवाजे के पास दोनों ओर सावधान की मुद्रा में खड़ी हो गयीं। उसी समय एक अत्यन्त डरावना, लम्बा-चौड़ा दस्युराज उसी दरवाजे से बाहर निकला और झूमता हुआ आगे बढ़ा। उसके उलझे हुए घुँघराले बाल; बड़ी भारी मोटी-मोटी मूछें, बड़ी-बड़ी लाल आँखें, बलिष्ठ भुजाएँ और गठा तन—सब मिलाकर उसकी आकृति को दुष्ट शिरोमणि सिद्ध करती थीं। उसे देखकर एक बार तो बेचारी तरंग थर-थर काँप उठी! पद्मदेव भी कुछ समझ नहीं पा रहा था कि आगामी क्षणों में ही क्या घटित होने वाला है। प्रांगण में उपस्थित जनों ने जय-जयकार का जो तुमुल नाद किया, सारी कंदरा उससे गुंजायमान हो उठी। जब तक बड़ा सरदार एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ सिंहासन पर आरूढ़ न हो गया उसका जय-जयकार होता ही रहा। सरदार ने हाथ उठाकर सभी का अभिवादन स्वीकार किया। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। प्रांगण मध्य की पीठिका पर खड़े युवा युग्म को जो उसने देखा तो देखता ही रह गया। उसने दृष्टि गड़ाकर ध्यानपूर्वक तरंग को देखा। अपने आसन से उठकर वह स्वयं नीचे उतरा और तरंग को समीप से देखा, मानो अंग-प्रत्यंग को परख रहा हो। तरग तो बेहद डर गयी थी। उस नर-पिशाच की दृष्टि मानो उसके तन को बेध रही हो। उसे इन लोगों के प्रयोजन का कुछ भी पता न था। तरंग को देख-देखकर सरदार जो सन्तोष और प्रसन्नता व्यक्त कर रहा था—उससे वह बहुत दुखी हो रही थी। यह क्लेश उसके मन को उद्विग्न कर रहा था। सोचती अब न जाने क्या होने वाला है?

तभी सरदार सिंहासन की ओर मुड़ा और तरंग के प्राण मानो आश्वस्त हुए। सरदार ने छोटे सरदार की पीठ थपथपाई, साधुवाद करते हुए उसने कहा—"वाह! छोटे सरदार, वाह! आज तुमने हमें प्रसन्न कर दिया। कल के लिए हमें ऐसी ही कन्या की आवश्यकता थी। तुम वास्तव में हो बड़े काम के। जाओ, कल रात्रि तक इन दोनों को अपनी निगरानी में रखो। व्यक्तिगत रूप से तुम इनके लिए उत्तरदायी हो और रहोगे छोटे सरदार! ऐसा न हो कि ।"

"आप निश्चिन्त रहें बड़े सरदार! आपने जो काम सौंपा है, प्राणों की बाजी लगाकर भी मैं उसे पूरा करूँगा।" अपना झुका हुआ सिर ऊँचा करते हुए छोटे सरदार ने कहा—"आपका नमक खाया है तो उसका कर्ज उतारना भी मुझे खूब आता है सरदार! आप चिन्ता नहीं कीजिये ।"

और उसके दोनों हाथ प्रणाम करने को जुड़ गये। "आपके आदेश का पालन होगा सरदार" कहते हुए वह एक बार पुनः झुका और खड्गधारी प्रहरियों को सकेत करते हुए उसने वहाँ से प्रस्थान किया। तरंग और पद्मदेव दोनों को दो-दो प्रहरी ले चले···छोटे सरदार के पीछे-पीछे। एक प्रहरी लोह शृंखला थामे आगे चल रहा था तो दूसरा पीछे। सरदार धीमे-धीमे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। तरंग और पद्मदेव के मन में भारी उथल-पुथल मच रही थी। छोटा सरदार इन्हें भीतर ही भीतर से दूसरी बड़ी कन्दरा में ले गया जहाँ अनेक स्त्री-पुरुष पहले से ही बन्दी थे। इस सुकुमार बन्दी युगल को देखकर वे सब त्राहि-त्राहि कर उठे। ये बेचारे निरीहजन इन दुष्टों के चंगुल में कैसे फँस गये !! कुछ को सहानुभूति होने लगी तो कुछ करुणा करने लगे। इन बन्दियों से दूर एकाकी रूप में एक स्तम्भ से छोटे सरदार ने पद्मदेव को बाँध दिया और तरग को और भी कुछ दूर ऐसी आड़ में ले जाकर अन्य स्तम्भ से बाँधा गया, जहाँ से दोनों एक दूसरे को नहीं देख सकें। दो-दो खड्गधारी प्रहरी नियुक्त थे ही। छोटा सरदार माँ काली के दर्शन करने को चला गया।

× × ×

हुआ यों था कि रात्रि व्यतीत होने पर पद्मदेव ने नौका को नदी तट पर लगाकर एक सुरम्य वन-खण्ड में कुछ विश्राम की सोची। नित्य कर्म से निवृत्त भी होना ही था। तरंग ने नियमित धर्मक्रियाएं भी सम्पन्न कीं। तब तक पद्मदेव ने आस-पास से ही कुछ वन्य फलादि एकत्र कर लिए। दोनों एक खुले स्थान पर बैठे बतिया रहे थे कि तरंग का ध्यान दूर आकाश में उड़ते धूल के बवंडर पर गया। उसके संकेत पर पद्मदेव ने देखा तो तुरन्त समझ गया कि कोई सैनिक टुकड़ी इधर आ रही है, या अश्वारोही दस्यु हो सकते हैं। दस्युओं का नाम सुनकर ही तरंग तो भीतर तक काँप उठी। भय के मारे उसका मुख विवर्ण हो उठा। पद्मदेव ने उसे धीरज बँधाया—"अब जो होना होगा सो तो होगा ही। धीरज और साहस छोड़कर तो हम और नयी समस्या खड़ी कर लेंगे। देखते हैं—कौन हैं ? क्या चाहते हैं ? दस्यु भी हुए तो धन ही तो ले जाएंगे, हमारा भाग्य तो हमारे साथ ही रहेगा न ! नियति के परे न डाकू हैं, न हम रह पाएंगे। जो भी सामने आये—हर परिस्थिति का हमें हिम्मत के साथ डटकर मुकाबला करना है।"

पद्मदेव का यह दर्शन बड़ा प्रभावकारी था। उसने तरंग को वास्तव में साहस और धैर्य दिया। वह मानसिक रूप से तत्पर हो गयी थी, हर प्रकार की आगत परिस्थिति के अनुरूप आचरण करने के लिए। अब उसमें भय के स्थान पर साहस था, विचलन के स्थान पर अडिगता थी। उसे ही पहाड़ी की ढलान पार करते हुए अश्वारोही पहले दिखायी दिये जो उन्हीं की ओर बढ़े चले आ रहे थे। कुछ पलों में ही वे इनके समीप पहुँच गये।

अपने समक्ष इन विकराल दस्युओं को देखकर तरंग तो पीपल के पत्ते के समान काँप उठी। वह पद्मदेव के पीछे लुकने की असफल चेष्टा करने लगी। वह झाँक-झाँक कर इन दुष्टों की गतिविधियाँ भी ताड़ लेना चाहती थी। लगभग पच्चीस दस्युओं का यह एक बड़ा भारी दल था। सभी ने एक से अंगरखे पहन रखे थे। सब के सिर पर काली पगड़ियाँ थीं। पगड़ी का एक छोर मुख पर इस प्रकार लिपटा था कि पहचाना न जा सके कि कौन—कौन है। उनकी मात्र अंगारों सी चमकती आँखें दिखायी देती थीं। सभी चौकस-चौकन्ने, अपने-अपने घोड़ों पर सवार थे। कमर में बरछी और तलवार, हाथों में भाले, मन में पाप और मुख में कर्कश स्वर—यही बानक था इनका। सभी अपने नायक के आदेश के लिए आतुर थे। नायक छरहरे तन का किन्तु बलवान नौजवान था। इसके सर पर लाल साफा, मुख खुला हुआ, हाथ में नंगी तलवार और नेत्रों में आत्मविश्वास था। सब से आगे, बीचोंबीच खड़े इस नायक की आकृति बड़ी भयावह थी। नुकीली-भारी मूँछें, साफे के बाहर तक निकले हुए गर्दन पर लहराते और कानों के पास के बाल भी काफी लम्बे थे। उसने सफेद धोती और चमरौधे जूते पहने थे। बिन बाँहों की बंडी से उसकी बलिष्ठ भुजाओं का सशक्त प्रदर्शन भी हो रहा था।

"आज्ञा दें छोटे सरदार! पलभर में इन दोनों के हम टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। माल काफी लगता है इनके पास। फिर तो यह सब हमारा हो जायगा।"—पहली पंक्ति के किसी दस्यु ने सन्नाटा तोड़ते हुए कहा।

'नहीं···कोई इन्हें हाथ भी नहीं लगायगा"—छोटा सरदार कड़क कर गर्जा—"कोई हाथ नहीं लगायगा। माल तो वैसे ही हमारा हो चुका। हमारा ही तो हक है अब इस पर।" अपने कथन के अन्तिम शब्दों को खूब चबा-चबाकर बोलते हुए नायक ने पति के पीछे छिपकर खड़ी तरंग को जरा झुककर घूरते हुए देखा। भय और संकोच के मारे वह बेचारी सिमट

कर रह गयी—कर ही क्या सकती थी ! उसे लगा जैसे नायक ने जो कुछ कहा—वह उसी के लिए था। पद्मदेव ने अवश्य अब भी साहस का पल्ला नहीं छोड़ा था। तरंग ने फुसफुसाते हुए पीछे से कहा—"दे दो न इन लोगों को सब कुछ दे दो जो हमारे पास है। पीछा तो छूटे।" पद्मदेव ने अपने मन की आशंका खोलते हुए कहा—"देना क्या है—वह तो इनका हो ही चुका है, किन्तु इन्हें कदाचित हमारी आवश्यकता अधिक है। हमें ये छोड़ेंगे नहीं।" पद्मदेव ने सारा कथन धीमे स्वर में और सावधानी के साथ किया—कोई हाव-भाव उसने अपने मुख पर नहीं आने दिया।

छोटे सरदार ने असि-संकेत दिया। दो दस्यु तरंग और पद्मदेव के पास पहुँच गये। दो दस्यु समीप बँधी नौका पर चढ़ गये और देखने लगे क्या-क्या सम्पदा है ? तभी एक ने वहीं से ऊँचे बहुत ऊँचे स्वर में, उल्लास-पूर्वक कहा—"आज तो हमें खजाना हाथ लगा है सरदार, खजाना ! हीरे-मोती-जवाहरात का ढेर है सरदार ! अवश्य ये लोग सार्थवाह-परिवार के होंगे।" "मूर्ख, हमें यह नहीं जानना है कि इनका परिवार कौन सा है। जो माल इनके पास है चुपचाप उसे ले आओ।" फिर सन्नाटा छा गया। बड़ा दबदबा था छोटे सरदार का। सोचने लगा था—प्रसन्न हो जायेंगे आज हमारे बड़े सरदार। इतना धन ! वाह !! कन्दरा से चलते समय ही अच्छे शगुन हो गये थे। अब उसका ध्यान तरंग की ओर गया जिसने अत्यन्त मूल्यवान अनेक आभूषण पहन रखे थे।

इसी समय पद्मदेव के समीप खड़े एक दस्यु ने वहीं से चिल्लाकर कहा—"छोटे सरदार ! अब क्या आदेश है ? इस स्त्री के शरीर पर भी बहुत से आभूषण हैं। छीन लें इससे ?"

"नहीं हम में से कोई भी ये आभूषण नहीं उतारेगा—कोई भी नहीं उतारेगा ये आभूषण ..."—नायक ने आदेश दिया।

दस्यु "तो क्या इस स्त्री से कहें कि वह स्वयं अपने आभूषण उतार कर हमें दे दे।"

नायक—"नहीं ऐसा भी नहीं होगा ... वह स्वयं भी नहीं उतारेगी ..."

दस्यु—फिर क्या हम ये आभूषण छोड़ जायेंगे ... बड़े सरदार सुनेंगे तो क्रुद्ध होंगे। सरदार दया-माया-ममता हम दस्युओं के लिए नहीं हुआ करती। सोच लो छोटे सरदार .... बात छिपती तो नहीं ना !

नायक—भोलू, यह तो मैंने नहीं कहा ! मैंने कब दया करने की बात सोची है भला !

दूसरा दस्यु—तब हम चाहते क्या हैं ? इन आभूषणों का होना क्या है छोटे सरदार ! कुछ तो हमें भी ज्ञात हो ! हैं ? यह नयी रीति कौन सी चालू कर रहे हो तुम आज, हाँ ।

नायक—कोई भी नयी रीति नहीं कोई नहीं । सुनो, ये आभूषण हमारे हैं—हमारे हो गये हैं । जहाँ ये अभी हैं, वहाँ रहकर भी ये हमारे ही कब्जे में हैं । सुनो अच्छी तरह सुन लो, हम चाहे इन्हें न उतारें, चाहे यह स्त्री उतार कर हमें न दे, फिर भी ये आभूषण अब हमारे ही हो गये हैं । हमारे बड़े सरदार स्वयं इस सुन्दर-कोमल तन से अपने हाथों से ये आभूषण उतारेंगे ।

एक जोर की हर्ष-ध्वनि हुई । नायक की इस अनोखी सूझ पर सभी विस्मित भी थे और प्रसन्न भी । भोला प्रशंसा में कुछ कहने ही जा रहा था कि सहसा नायक ने आदेश दिया—"साथियो, अब हमें लौट चलना है । चलो—इन दोनों को बन्दी बना लो और अपने साथ ले चलो ।" कहते हुए उसने नंगी तलवार वाला बाहु ऊँचा कर दिया । सूर्य की किरणों में तलवार चमचमा उठी ।

दस्युओं ने पद्मदेव और तरंगवती को लोह शृंखलाओं से जकड़ दिया । एक अश्वारोही ने शृंखला का एक सिरा आगे से थामा, दूसरे ने पीछे से । बीच में बेचारा पद्मदेव । यही हाल निरीह, कोमलांगी तरंग का भी था । अब यह दस्यु दल लौट चला । कुछ अश्वारोही दस्यु आगे और कुछ पीछे—बीच में ये दोनों बन्दी चल रहे थे । अश्व कितने ही धीमे चलें, फिर भी बन्दियों के लिए उस गति से चलना कठिन हो रहा था । आगे के प्रहरी शृंखलाओं को खींचते जाते थे, पीछे के प्रहरी चाबुक बरसा रहे थे । पशुओं से भी हीन अवस्था थी बेचारों की । थककर चूर हो गये थे । नीचे धरती पर मानो अंगारे बिछे थे, ऊपर आकाश ज्वालाएं उगल रहा था । नंगे पैर तप्त चट्टानों, कंकरों-पत्थरों पर चलते-चलते उनके पैरों में छाले बन-बन कर फूट गये थे । लहुलुहान पैरों से भी उन्हें आगे बढ़ना पड़ रहा था । पसीना-पसीना होकर बेचारी तरंग तो बुरी तरह हाँफ उठी । तेज चल रही साँस से उसके वक्ष में जलन होने लगी थी । कंठ उसका सूखा जा रहा था । प्यास के मारे बुरा हाल था । अनेक बार पानी की करुण पुकार

के पश्चात एक दस्यु ने दया दिखायी। उसने अपनी पीठ पर लटकी पानी की सुराही आगे बढ़ायी। तरंग ने हाथों से ओक बनायी पर एक बूंद भी उसमें नहीं आयी। तभी एक छोटा पात्र जल से भरकर उसके हाथों में थमा दिया गया। शृंखलाबद्ध हाथों से वह पात्र को बड़ी कठिनाई के साथ अधरों तक ला पायी थी कि एक दस्यु ने तलवार की नोंक से धकेलकर पात्र गिरा दिया। जोर का कहकहा उठा। मनोरंजन के इन क्षणों ने दस्युओं का मन हल्का-फुल्का कर दिया। तरंग नाम था उसका और उसके अधर एक बूंद को भी तरस गये थे। पीछे से एक कोड़ा पड़ा—पीठ छिल गयी। तरंग क्रूर संकेत को समझकर तीव्रता से बढ़ने लगी, किन्तु यह तीव्रता भी कब तक की। कुछ क्षणों में ही वह मंथर हो गयी, शिथिल हो गयी। पर्वतों की कठिन चढ़ाई ने तो उसका दम ही निकाल दिया था। दुर्भाग्य की मारी बेचारी तरंग की बड़ी दुर्गति हुई। बीस कोस के दुर्गम मार्ग को पारकर जब किसी प्रकार संध्या तक वे पर्वत कन्दरा में पहुँचे तो क्रूर सरदार की पैनी दृष्टि उसके तन ही नहीं, मन को भी गहराई तक कुरेद गयी थी।

स्तम्भों से अलग-अलग स्थलों पर पद्मदेव और तरंग को बाँध कर छोटा सरदार जब लौटने लगा तो उसने तरंग के समीप आकर फुसफुसाते स्वरों में कहा—"सुन्दरी, तुम बड़ी ही भाग्यवती हो। हमारे सरदार स्वयं तुम्हारे कोमल तन से आभूषण उतारेंगे। वे तुम्हें देवी का चरणामृत-मधुर मदिरा का पान भी अपने हाथों से करायेंगे।" और लपक कर एक ओर भाग गया। शीघ्र ही वह तो अदृश्य हो गया, किन्तु उसके बोल तरंग के कानों में चक्कर लगाने लगे। वह एकनिष्ठ प्रेमिका बेचारी बड़ी संतप्त हो गयी। वह भावी का कोई अनुमान भी नहीं लगा पा रही थी। वह क्रूर सरदार तो पर्वत-शिखर सा है—उससे आत्मरक्षा""। वह सोचते-सोचते व्याकुल हो उठी। विलाप करती हुई जब वह रुदन करने लगी .. तो उसकी ध्वनि पद्मदेव के कानों तक भी पहुँची और उसे तड़पा गयी। उसकी शृंखलाएँ बज उठीं। उसका सारा आक्रोश विफल हो रहा था, उसका सारा विद्रोह ठंडा पड़ता जा रहा था, वह बन्दी जो था—क्या करता बेचारा क्या कर सकता था?

सहसा तुरही-नगाड़े के स्वर तरंग के कानों में पड़ने लगे तो वह चौंक उठी। क्या सरदार इधर आ रहा है। कहा तो गया था कि संध्या को आकर वह मेरे आभूषण उतार लेगा। क्या इसी उद्देश्य से "सोचकर

ही तरंग के प्राण मुख को आने लगे। अब न जाने क्या होने वाला है। उसे लगा कि वाद्यों के स्वर समीप से समीपतर होते जा रहे हैं और कुछ समय में तो उसने देखा कि कुछ लोग उसी की ओर बढ़े चले आ रहे हैं। पास आने पर उसे स्पष्ट दिखायी दे गया कि वह बड़ा सरदार ही है। उसके आगे दो खड्गधारी थे। उनके पीछे दो उल्काधारी और उनके पीछे फिर दो खड्गधारी चल रहे थे। बीच में सरदार था। सबसे आगे वादक गण थे। इस आयोजन के साथ उसे आते देखकर तरंग तो पसीना-पसीना हो गयी। आँखों पर लटक आयी केश लटों को उसने सिर का झटका देकर पीछे को कर लिया। हठीली एक लट तो फिर से आगे को आ गयी। उसने देखा सरदार दूरी पर ही सामने आकर रुक गया। उसने संकेत से अपने अनुचरों को वहीं रोक दिया और धीर-गम्भीर हो आगे बढ़ने लगा– एक-एक चरण धीमे-धीमे। सरदार तरंग के सामने कोई चार-पाँच गज की दूरी पर ही रुक गया। हाथ जोड़कर, आँखें मूँद कर प्रार्थना की मुद्रा में वह एक पैर पर खड़ा था। दूसरा पैर मोड़कर उसने ऊपर को कर लिया था। बीच-बीच में वह अपने हाथों को वक्ष, कंधों, कंठ और भाल पर लगा लेता था। होठों ही होठों में वह कुछ बुदबुदाता रहा। बड़ी देर पश्चात उसके नेत्र धीमे-धीमे खुले। उसने एकटक तरंग को कुछ क्षणों के लिए देखा और तुरन्त दृष्टि उसके चरणों की ओर झुक गयी। चरण-वन्दना कर वह घूम गया। तभी उसके अनुचर भी पीछे की ओर घूम कर खड़े हो गये। मंथर गति से ही सरदार उन लोगों के मध्य पहुँच गया और यह छोटी सी शोभा यात्रा पुनः गतिशील हो गयी। तुरही और नगाड़े फिर बज उठे।

तरंग यह सब देख कर विस्मित थी। सरदार तो आया था कि यह और यह सब वह क्या कर गया? क्यों किया उसने ऐसा? इसका प्रयोजन क्या? अनेक प्रश्न उसके मन में उमड़ने लगे। अब तो उसे सारी नयी-नयी परिस्थितियों का सामना स्वयं ही अकेले ही करना होगा। पद्मदेव का संग तो छूट ही गया था। इस एकाकीपन ने उसके हृदय को बोझिल बना दिया।

कोई एक प्रहर रात्रि बीती होगी कि छोटा सरदार आ पहुँचा। उसके साथ दो सेवक कुछ पात्र लेकर आ रहे थे। उसने आकर इस बार कुछ कोमल व्यवहार किया। उसका रंग-ढंग बदला हुआ था। सेवकों से उसने पात्र रखकर चले जाने को कहा। उनके चले जाने पर उसने तरंग की

ओर उन्मुख होकर कहा—"सुनो देवि ! आज की रात्रि तुम हमारी सम्माननीय अतिथि हो। तुम्हारे पति को तो कल प्रातः मुक्त कर दिया जायगा, किन्तु तुम सौभाग्य की स्वामिनी हो। तुमको काली माई की बलि बनने का गौरव मिलेगा। कल ही संध्या तुम्हारी बलि दे दी जायगी। उद्धार हो जायगा तुम्हारा ! माई की अनन्त कृपा की अधिकारिणी बनोगी तुम।"

अपनी लम्बी वार्ता से थककर मानो कुछ क्षण विराम कर छोटा सरदार पुनः कहने लगा—"आज संझा को जब तुम्हें उपस्थित किया गया था, बड़े सरदार ने कहा था कि हाँ, कल के लिए हमें ऐसी ही स्त्री की आवश्यकता है—उस समय मैं उनका अर्थ कुछ और ही समझ बैठा था किन्तु उनका आशय तो यही था कि कल कालीमाई के समक्ष चढ़ाने को ऐसी ही सुन्दर बलि की आवश्यकता थी। आज सायं उन्होंने स्वयं आकर तुम्हारी स्तुति की होगी। इस बलि से सरदार को अपार वैभव, शक्ति और पराक्रम मिलेगा। उन्हें कालीमाई का ही इष्ट है। तुम भी कितनी····कितनी भाग्यशालिनी हो तुम !! तुमको कालीमाई की सेवा का यह महान अवसर मिला है।"

"भैया, छोटे सरदार ! मेरी प्रार्थना सुनो, मैं मरना नहीं चाहती, नहीं चाहिये मुझे यह सौभाग्य, यह गौरव ! कल ही हमारा विवाह हुआ है। अभी हमने ।" कातर स्वर में तरंगवती की अनुनय अधूरी रह गयी। छोटा सरदार बीच ही में बोल उठा—"इसीलिए इसीलिए तो सरदार ने तुम्हें बलि के लिए चुना है। नवविवाहिता की बलि दी जानी है ना !" कुछ क्षण रुककर छोटे सरदार ने पात्रों के ढक्कन उतारते हुए कहा—"लो यह अच्छा पका मांसाहार है और इस दूसरे पात्र में मदिरा है। भर पेट सेवन कर लो। बलि से पूर्व हमारे यहाँ ऐसा तृप्तिकारी आहार दिया जाता है। लो संकोच न करो।"

इन अखाद्यों के नाम मात्र से ही उसे घिन हो आयी, उसे मतली आने लगी। समय के आग्रह को समझते हुए उसने अपने मनोभावों पर नियन्त्रण किया। घृणा प्रकट किये बिना ही उसने सीधा-सादा सा उत्तर दे दिया—"क्षमा कीजिये—आज मेरा व्रत है—मुझे कुछ भी लेना नहीं है। आपने कष्ट किया। धन्यवाद !"

तरंगवती की यह विनयशीलता रंग लायी। छोटे सरदार का कठोर मन भी कुछ पसीजने लगा। तरंग ने इस अवसर का लाभ उठाना चाहा।

सरदार के मुख पर फैली मधुर मुस्कान ने उसे प्रेरित किया। तरंग ने अपने स्वर में और भी कोमलता घोलते हुए कहा—"भैया मेरे, मैंने सुना है कि तुम भी वणिक-पुत्र हो। जो भी हो, तुम ऐसी प्रवृत्तियों में क्यों लग गये, किन्तु सुनो मैं भी तुम्हारी स्वजाति बहन हूँ। मेरे पिता ऋषभसेन कौशाम्बी के नगर श्रेष्ठी हैं। मेरे पति का नाम पद्मदेव है और वे भी कौशाम्बी के ही धनाढ्य सार्थवाह धनदेव के पुत्र हैं।" इतना कहकर तरंग अपनी बात का प्रभाव सरदार पर क्या हुआ ?—यह जानने को रुकी। उसने पाया कि इन लोगों का परिचय पाकर सरदार की मुद्रा में स्वतः ही मृदुलता आ गयी है, आदर भाव झलकने लगा है। तरंग यह पाकर उत्साहित हुई बोली—"भैया ! तुम तो जानते ही हो—मेरे परिवार में भी और उनके यहाँ भी धन की प्रचुरता तो है ही। कौशाम्बी में मैं तुम्हें मुँह माँगा धन दूंगी—हमें इस घोर संकट से मुक्त कर दो····हमारे प्राणों की रक्षा करो भैया हम अभी मरना नहीं चाहते। पूर्वजन्म के हम चक्रवाक-चक्रवाकी हैं। असमय उन्हें उस भव में मरना पड़ा, आखेटक के तीर के शिकार हो गये थे वे। मैं भी उनके साथ सती हो गयी थी। इस जन्म में बड़े ही संकटों को पार कर कल ही एक-दूसरे से मिले हैं हम। कल हमारा विवाह हुआ—आज हम पुनः बिछोह की सीमा में धकेले जा रहे हैं। भैया मेरी रक्षा करो··· रक्षा करो मेरी।" कहते-कहते उसके बड़े-बड़े नयनों में अश्रु भर आये।

"नहीं····नहीं····नहीं मेरी बहना, नहीं। हम दस्यु हैं, दुष्ट और दुर्जन तो हम हो सकते हैं, किन्तु हमारे भी कुछ आदर्श हैं, कुछ सिद्धान्त हैं। धन के लोभ में मैं कपट नहीं कर सकता अपने बड़े सरदार से। माँ काली से तो मैं कभी भी छलपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता। तुमने भाई मानकर मेरे हृदय को हिला दिया है—मैं ऐसा विचलित कभी नहीं हुआ। बहन मुझे क्षमा करना··· क्षमा करना मुझे····मैं तुम्हारी कामनाएँ पूरी नहीं कर सकूँगा।" तरंग ने देखा उसके मनोभाव मुखमंडल पर छितर आये थे। उसकी विवशता ही नहीं, उसका मनोसंघर्ष, उसका अन्तर्द्वन्द्व उसके एक-एक शब्द से प्रकट हो रहा था। वह हाथों को नचाता हुआ—सिर झुकाए हुए वहाँ से चला गया।

भूख-प्यास के मारे उसकी नस-नस सनसना रही थी, किन्तु तरंग को इस समय जीवन-रक्षा की चिन्ता अधिक त्रस्त कर रही थी। वह

आकुल-व्याकुल-बेहाल हो रही थी। ऐसे गम्भीर और संवेदनशील क्षणों में भी वह अपने जीवन साथी से दूर थी। उसे यह भी ज्ञात नहीं था कि उसके पति के साथ क्या बीत रही होगी। मैं तो स्त्री हूँ वे पुरुष हैं उनके प्रति कौन दया करेगा! ये दुष्ट न जाने क्या अत्याचार कर रहे होंगे उनके साथ। जैसे ही तरंग पद्मदेव के विषय में सोचने लगती, उस पर मूर्च्छा सी आने लगती थी। उसकी दोनों कलाइयों में कड़े डालकर हाथों को जंजीरों से ऊपर को ऐसे बाँध दिया गया था कि वह बैठ भी नहीं सकती थी। ऊपर उठे हाथ मानों अब टूटने लगे थे। उसके पैर भी निष्प्राण हुए जा रहे थे। कन्दरा का दमघोंटू वातावरण अलग से उसे त्रस्त किये जा रहा था और उसको निराशा के महासागर में कोई तिनका भी दृष्टिगत नहीं हो रहा था।

तरंग से कुछ दूरी पर पीछे की ओर एक वृक्ष से एक अन्य बन्दिनी बँधी थी। उसने तरंग और छोटे सरदार का वार्तालाप सुन लिया था। उसके मन में तरंग के प्रति असीम करुणा उमड़ आयी थी। वर्षों से यह प्रौढ़ा यहाँ बन्दिनी थी। उसने अपने शिथिल बन्धनों की सुविधा उठाकर कुछ आगे खिसक आने में सफलता प्राप्त कर ली। वात्सल्यपूर्ण सम्बोधन के साथ उसने कहा—"बेटी, तुम्हारी कहानी मैंने भी जान ली है। सब कुछ जानकर मुझे तुमसे सहानुभूति हो आयी है। देवताओं जैसी तुम्हारी सुन्दर जोड़ी है—भाग्य तुम लोगों की सहायता करे!! एक बात सुनो··· तुम कितनी ही गिड़गिड़ाओ, अनुनय-विनय करो, पर यह निष्ठुर छोटा सरदार पिघलने वाला नहीं। वह चाहे तो तुम्हें जीवन-दान दे सकता है···· बचा सकता है तुमको वह, पर वह चाहे, तभी तो ऐसा हो सकेगा। उससे कोई आशा न रख। अभी अन्य सेवक बारी-बारी से आएँगे। उन्हें अपने आभूषणों का लोभ दे। शायद तेरा कार्य हो ही जाय।" इसी समय प्रहरियों की संकेत ध्वनि आयी—"सावधान!···सावधान!!" प्रौढ़ा सतर्क होकर अपने स्थान पर पहुँच गयी।

प्रौढ़ा बन्दिनी ने तरंग की इस धारणा का अनुमोदन ही किया था कि किसी प्रकार की आशा छोटे सरदार से रखना व्यर्थ ही होगा। घोर संकट की इस घड़ी में तरंग को धर्माश्रय का ही एकमात्र अवलम्ब उपयुक्त लगा। उसने नवकार मन्त्र का जाप आरम्भ किया। दत्तचित्त से वह इस जाप में जुट गयी।

× × ×

धर्माराधना का परिणाम अवश्यम्भावी रहता है। जैसे कुकर्मों का दुष्परिणाम घटित होता ही है, वैसे ही सुकर्मों का प्रतिफल भी मिलता ही है। यह अन्य बात है कि हम इनका सम्बन्ध जोड़ सकें या नहीं। कार्य-कारण का सटीक सम्बन्ध बना ही रहता है। वह भयावह काल रात्रि आधी से अधिक बीत गयी होगी। तरंग तो नवकार मंत्र के जाप में ऐसी निमग्न हो गयी थी कि उसे बाहर की परिस्थितियों का कोई भान ही नहीं रहा। सहसा आस-पास की हड़बड़ी ने उसे चौंका दिया। उसे पदचाप और लोह-शृंखला की खनखनाहट सुनायी देने लगी थी। वह सहसा हुए इस परिवर्तन के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं लगा पा रही थी। वह इस कल्पना से काँप उठी कि कदाचित् बलि चढ़ाने का समय समीप आ गया है और उसे इस निमित्त तैयार किया जाना है। तभी दूर जलती एक उल्का के प्रकाश में देखा कि पद्मदेव उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है, थका-थका हारा-हारा। वह इस आशंका से आतंकित हो उठी कि तो क्या बलि हम दोनों की चढ़ायी जायगी ? यदि इन्हें बलि न भी किया गया तब भी, इन्हें अब आजीवन यहीं बन्दी रहना होगा। हाय ! कैसी दयनीय दशा हो जायगी। यहाँ एक बार आ चुका कोई व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं किया जाता····वह जीवित यहाँ से कहीं जा नहीं सकता। वह यह सब सोच ही रही थी कि उसी समय उसने देखा—उसके पति के पीछे-पीछे छोटा सरदार भी चला आ रहा है। उसकी आशंका उसे सत्य प्रतीत होने लगी अब बलि का समय आ गया है।

पद्मदेव ने समीप आकर प्रेयसी तरंग की यह दयनीय दशा देखी तो उसे बड़ी पीड़ा हुई। बड़ी कठिनाई के साथ उसने अपनी रुलाई पर नियन्त्रण किया। छोटा सरदार आगे बढ़ा और उसने स्वयं ही तरंग को शृंखला-मुक्त किया। निर्बन्ध तरंग ने अब बड़ी देर कष्ट भोगने के पश्चात् कुछ राहत अनुभव की। "भैया, क्या बलि का समय ।" उसने बोलना आरम्भ किया ही था कि—"शिश····च" करते हुए छोटे सरदार ने अपने मुँह को उँगलियों से बन्द किया और शान्त रहने का संकेत किया। और तभी उसने तरंग को सम्बोधित करते हुए कहा—"बहना मेरी जब तुमने मुझे भैया कहा है तो मुझे भी तो भैया का कर्तव्य पूरा करना है। मैं तुम्हें मुक्त कर दूर सुरक्षित क्षेत्र तक स्वयं पहुँचाऊँगा। मैं यह जानता हूँ कि बड़ा सरदार मेरे इस अपराध को क्षमा नहीं करेगा····वह शायद जीवित ही नहीं

छोड़े मुझे, पर जब भाई का कर्तव्य निभाने का संकल्प कर ही लिया है तो फिर क्या आगा-पीछा करना। हर भले कार्य का मोल चुकाना ही पड़ता है। यह भी एक तपस्या है। अन्तर यही है कि तपस्या में कष्ट पहले, फल उसके बाद रहता है। इसमें भला कार्य पहले और कष्ट उसके बाद में रहता है। पर"—क्षणेक रुककर कुछ सोचते हुए सरदार ने फिर कहा—"पर एक बात है। मैं अपने सरदार को धन सम्बन्धी धोखा देने की आशंका भी नहीं होने देना चाहता। बहन! तुम्हें अपने हाथों से अपने सारे आभूषण उतार कर अपनी ही साड़ी के एक टुकड़े में बाँध लेना होगा। मैं इसके लिए विवश हूँ..." इतना कहकर छोटा सरदार मौन हो गया और उसकी ओर पीठ करके खड़ा हो गया।

तरंगवती ने एक-एक कर अपने आभूषण उतारना आरम्भ किया। अपने ही वस्त्र के एक टुकड़े पर रखती चली जा रही थी और वह सोच रही थी कि आखिर यह सब कुछ कैसे सम्भव हुआ। इस निष्ठुर का हृदय परिवर्तन कैसे हो गया! मैंने इसे अपना भाई मान लिया—क्या वास्तव में यह उसी का परिणाम है, नहीं हो न हो यह नवकार महामन्त्र का शुभ परिणाम ही हो। जब सारे आभूषण उतार चुकी तो उस पोटली को उसने उसी स्तम्भ के शिखर पर बाँध दिया जिससे वह अभी-अभी मुक्त हुई थी। और तब बिना कोई ध्वनि किये छोटा सरदार आगे-आगे और उसके पीछे तरंग और पद्मदेव चल पड़े। उल्का के प्रकाश की सहायता भी ये नहीं ले सकते थे। लुक-छिपकर ही उन्हें कन्दरा से बाहर आ जाना था। छोटे सरदार को कठिनाई नहीं थी, किन्तु इन दोनों को इस घोर अन्धेरे में कन्दरा के ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलने में भारी असुविधा हो रही थी। कभी कन्धा किसी चट्टान से टकरा जाता तो कभी उनका पैर गढ़े में उतर जाता। गिरते-पड़ते ये लोग किसी प्रकार कन्दरा के बाहर तो निकल आये, किन्तु अभी सुरक्षित नहीं थे। न जाने कब सरदार को सूचना हो जाय कि बन्दी भाग खड़े हुए हैं और वह अश्वारोहियों को दौड़ा दे, इन्हें पकड़ने के लिए। यदि पकड़ में आ जायँ तो फिर इनकी दुर्दशा की कोई सीमा ही नहीं रह जायगी। यह निश्चय था; अतः छोटा सरदार उन्हें तेजी से ले चलना चाहता था।

अभी रात्रि काफी शेष थी। छोटा सरदार इन दोनों को भोर होने तक इस दस्यु दल के क्षेत्र से बाहर पहुँचा देना चाहता था। उसे यह

आशंका भी थी कि पीछे से अश्वारोही आ सकते थे, अतः वह ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी मार्गों से ले जा रहा था। स्वाभाविक था कि मार्ग दुर्गम हो। क्या तरंग और क्या पद्मदेव दोनों का जीवन समृद्धि पूर्ण रहा था, कोमल तन और सुखकामी मन—ये बेचारे कैसे चल पाते, पर इन्हें चलना था, ये चलते रहे। कंकर गड़ जाते, काँटे चुभकर टूट जाते, नुकीले पत्थरों से पाँव छिल जाते, पर छोटा सरदार उन्हें हाँके लिये जा रहा था। वे भी इस तरह भाग रहे थे, मानो पीछे कोई हिंस्र वन्य पशु भागा चला आ रहा हो। पर्वतों को लांघते, नदियों को पार करते, जंगलों को छानते, बीहड़ों को पैरते हुए, हाँफते-हाँफते चले जा रहे थे। भाग्य से तरंग को छोटे सरदार की जो दया प्राप्त हो गयी थी, वह इसे अकारथ नहीं होने देना चाहती थी। अभी इसी कारण उसने सब कुछ सह लेने का साहस विकसित कर लिया था। तीनों में से किसी को भी किसी से कोई बात करने का अवकाश नहीं था। बढ़ना····बढ़ते रहना····रास्ता पार कर गन्तव्य तक पहुँच जाना—बस यही लगन लगी हुई थी।

छोटा सरदार अपनी योजना में अन्ततः सफल हो गया। वे एक घने वन से निकलकर जब खुले मैदान में पहुँचे तो सरदार ने मुस्कुराते हुए कहा—"लो अब हम उस दस्यु दल की सीमा से दो कोस दूर, बाहर आ गये हैं। अब बड़ा सरदार तुम लोगों को नहीं पकड़ सकता। वह तुम्हारी कोई हानि नहीं कर सकता।" "और छोटे सरदार, मेरे भैया! तुम्हारा क्या होगा?" तरंग ने चिन्तित स्वर में पूछा और बोली—"तुम कन्दरा में कब पहुँचोगे··· बड़े सरदार का सन्देह तुम पर तो····।" "अब मेरी चिन्ता छोड़ो बहना··· मुझे अब उस दल में लौटना ही नहीं है। वहाँ क्या होगा—मुझे इससे अब कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। जिस क्षण मैंने तुम्हारी सहायता करने का विचार बनाया, बहना! उसी समय मैंने इस दल के त्याग का निश्चय भी कर लिया था।"

यह सुनकर तरंग और पद्मदेव अवाक् से रह गये। पद्मदेव ने कुछ क्षणोपरान्त कहा—"भैया छोटे सरदार! तुमने हमारे लिए बड़ा जोखिम लिया है। हमें प्राणदान देकर तुमने जो उपकार किया, हम उसका··· उसके लिए हम आभारी ही रहेंगे। कभी भुला नहीं पाएँगे तुम्हारा यह···।"

"अब छोड़ो बहना! इस सबकी कोई आवश्यकता नहीं। अभी तुमको बहुत कुछ करना है। भोर होने को है। मुझे भी अब विदा लेनी होगी। तुम

अब कौशाम्बी से अधिक दूर नहीं हो। यहाँ से कोई एक कोस पर सरोवर है। उसके समीप ही गाँव है। सरोवर पर पहुँचकर घड़ी भर को विश्राम कर लेना और फिर गाँव में पहुँच जाना। एक-आध दिन वहाँ रुक सकोगे। अच्छा गाँव है। स्वस्थ हो लो तो वहाँ से कौशाम्बी पहुँच जाना। सब कुछ ठीक हो जायगा—चिन्ता नहीं करो। अब मैं चला"—कहकर बिना कोई बात सुने ही छोटा सरदार घूम पड़ा और दौड़कर घने वन में प्रविष्ट हो गया। देखते ही देखते वह सघन वन में लुप्त हो गया।

१३

छोटा-सा, बड़ा प्यारा-सा ग्राम था। सर्वथा स्वच्छ और सुव्यवस्थित था यह! कदाचित् इसी कारण बहुत सुन्दर भी लगता था। घर अधिकतर कच्चे, किन्तु लिपे-पुते, चमचमाते हुए। खपरैलें इतनी सुन्दर कि देखते ही रह जायें। घर के बाहर आंगन। नीम, पीपल के वृक्ष आँगन की शोभा बढ़ाते। दीवारों पर अनेक प्रकार के लोक-कलात्मक चित्र। द्वारों पर रंगोली और बन्दनवार। पिछवाड़े ही ढोर-डंगर के लिए कुछ खुला—कुछ छायादार, पर एकदम स्वच्छ स्थल। गृहणियों की कलात्मकता, सुरुचि और श्रमशीलता के प्रमाण सर्वत्र बिखरे पड़े थे।

आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष—सभी स्वस्थ, सभी हँसमुख थे—इस गाँव में। उनका पारस्परिक व्यवहार भी निष्कपट, स्नेहपूर्ण और सर्वजनसुखाय था। जन-जन में धर्म-भावना झलकती थी। कैसा तो मृदुल, मधुर व्यवहार था इन लोगों का। पद्मदेव और तरंगवती का दुखी मन इस वातावरण को पाकर कुछ सुखानुभव करने लगा था। एक मन्दिर से जुड़ी धर्मशाला में इन लोगों को एक छोटा सा कक्ष मिल गया था""केवल कक्ष, उसमें दो चारपाइयों के सिवा कुछ न था। धर्मशाला के आंगन में बने एक कूप से पद्मदेव ने पानी खींचा। दोनों हाथ-पैर धोकर कुछ ताजगी अनुभव करने लगे। थकान से चूर तरंग ने रस्सी से बुनी चारपाई पर ज्योंही लेट लगाई, उसे हल्का सा चक्कर आने लगा। समीप ही अन्य चारपाई पर पद्मदेव बैठा था। धीमे स्वर में तरंग कह रही थी—"यह सब नियति ही है, स्वामी! कितनी कठिनाई से हमारा इस भव में मिलन हुआ और वह भी सुखद नहीं रहा। मृत्यु के कगार से लौटकर आये हैं। यह तुम्हारे-हमारे प्रेम की तीव्रता का ही प्रभाव है कि भक्षक ही हमारा रक्षक हो गया।" कहते-कहते तरंग को कुछ शिथिलता अनुभव होने लगी। उसकी साँस भर आयी थी। थूक

निगलते हुए वह कुछ और कहना ही चाहती थी कि पद्मदेव ने कहना आरम्भ किया—"छोटे सरदार ने हम पर जो उपकार किया है—वह सदा ही हमें स्मरण रहेगा तरंग। वह नहीं होता तो दुर्दशा न हुई होती—यह सत्य है, किन्तु यह उससे भी बड़ा सत्य है कि वह न होता तो हम किसी भी प्रकार बच नहीं सकते थे। कल्याण हो उस पुण्यात्मा का!" पद्मदेव ने साँस छोड़ते हुए कहा। थकान के लक्षण उसके स्वर में भी स्पष्ट दिखायी देते थे।

"हाँ, बेचारा बड़ा हितकामी निकला वह छोटा सरदार," तरंग ने अपना विचार व्यक्त किया। जाते-जाते भी वन्य फल-फूल एकत्र कर हमें दे गया था।"—एक क्षीण सी मुस्कान तरंग के अधरों पर फैल गयी। कुछ सोचते हुए ही वह उठ बैठी और अपने पैरों को सहलाने लगी। कंकर-पत्थर, धूप काँटों के आघात से उसके दोनों पैर घायल थे। अभी तो कदाचित् दस चरण चल पाना भी उसके लिए कठिन हो गया था। दशा पद्मदेव की भी न्यूनाधिक रूप में ऐसी ही थी। तलवे में गड़े एक काँटे को तर्जनी के नख से कुरेदती तरंग ने आगे कहा—"अब तो भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हैं। प्रातः सरोवर पर छोटे सरदार के दिये फलों का आहार किया था, किन्तु उससे होता भी क्या है? भूख भी तो पिछले कितने समय से चल रही है। कुछ करो न!" कहते हुए तरंग के स्वर में अनुरोध और मुद्रा में गिड़गिड़ाहट का भाव तैरने लगा।

"सोच तो मैं भी यही रहा हूँ कि कुछ करना चाहिए, पर क्या किया जा सकता है—यही समझ नहीं पा रहा हूँ।"—कहते हुए पद्मदेव सोच-विचार में लग गया।

"अब इसमें इतना सोचना भी क्या है? जाओ और किसी सद्गृहस्थ से अनुरोध करो कोई भी इस ग्राम में हमें मना नहीं करेगा।" तरंग ने इतना कहा और पद्मदेव की ओर निहारा। उसके मुख पर तत्परता का भाव न देखकर उसने और भी उत्साहित किया—"प्रयत्न करके तो देखो···· इसमें हानि ही क्या है?"

पद्मदेव ने प्रबोधन के स्वर में कहा—"तुम हानि की बात करती हो तरंग! यह कहने पर तो हमारे पास का सब कुछ चला जायगा—बचा क्या रह जायगा हमारे पास? वणिक होकर भिक्षा नहीं यह हमारे लिए उपयुक्त नहीं।" कुछ सोचते हुए उसने फिर कहा—"यह तो ग्राम है—यहाँ

क्रय-विक्रय भी क्या होता होगा—और यदि होता भी हो तो हमारे पास खाद्य क्रय करने को धन है ही कहाँ ? जो कुछ था—वह तो दस्युओं की भेंट गया। अब क्या किया जा सकता है ?"

"तुम ठीक कहते हो स्वामी ! मैंने जो सुझाव दिया—वह सोच-समझ कर नहीं दिया। भूख के आवेश में मैं ऐसा कह गयी, किन्तु यह हमारी मर्यादा के अनुकूल नहीं है।"—तरंग ने धीरज के साथ कहा। "मैं भूख सहन कर लूंगी··· सहन कर लूंगी मैं भूख।"

"नहीं तरंग, नहीं, सहन करने की बात नहीं है। उपाय तो कुछ करना ही होगा। यों कौशाम्बी कैसे पहुँचेंगे हम लोग। मैं जाता हूँ ·· कहीं परिश्रम करूँगा, स्वामी से आज का पारिश्रमिक अगाऊ लेकर कुछ प्रबन्ध करता हूँ भोजन का।" यह सुनकर तरंग को बड़ा विचित्र लगा। कौशाम्बी का धनाढ्य सार्थवाह-पुत्र, यहाँ इस गँवई गांव में मजदूरी करेगा, क्या विडम्बना है। यही सब कुछ सोचती हुई वह प्रकटतः बोली—"नहीं, स्वामी नहीं, तुमसे यह सब नहीं होगा··· नहीं करोगे यह हीन कार्य। भला तुम और यह ··।"

"क्या है इसमें तरंग ! परिश्रम तो सदा ही गौरव का काम है। कार्य कोई छोटा या बड़ा नहीं होता और इसमें लज्जा किस बात की ! आलस्य छोड़ो, कर्म से नाता जोड़ो और सभी संकटों को तोड़ो—यही सुख का सुमार्ग है।" पद्मदेव ने इतना कहा और बाहर जाने को तत्पर खड़ा हो गया।

"तुम तो यहाँ भी कविता करने लगे मेरे प्रियतम ! पर कविता में बात बड़े मर्म की कह दी।"—कहते हुए तरंग ने झुककर सुराही उठायी। शीतल जल का पान किया, उसे लगा जैसे उसे सजीवनी ही मिल गयी हो। भूखे पेट की कुलबुलाहट भी कुछ थमी। पद्मदेव काम की खोज में चल पड़ा था। तरंग अधिक बैठी न रह सकी, खटिया पर लेट गयी। व्यक्ति विश्राम की मुद्रा में आता है और उसकी स्मृतियाँ जीवित हो उठती हैं। तरंग को बीते हुए कल की दारुण परिस्थितियाँ त्रस्त करने लगीं। उपकारी छोटे सरदार ने ही उनको नवजीवन दिया। वह दूर से सरोवर दिखाकर चला गया। हमें तो इस ग्राम में आसरा मिल गया—वह न जाने किस आपदा में ग्रस्त होगा। सरोवर पर पहुँचकर इन लोगों ने नित्य कर्म से

निवृत्त होकर स्नान कर लिया और धर्म क्रियाएँ कीं। वन्य फलों का अल्पाहार किया और कुछ समय विश्राम करने लगे। तभी कुछ पनिहारिनियों का आगमन हुआ। एक-के-बाद एक इनके छोटे-छोटे दल आते और पानी घड़े भरकर चले जाते। मुग्ध भाव से तरंग इन्हें निहारती रही। इन स्त्रियों ने भी तरंग को देखा, आपस में वे कानाफूसी भी करने लगीं पर किसी ने बात करने का साहस नहीं दिखाया। तरंग से दृष्टि मिलने पर वे भीत मृगियों सी दुबक जातीं, पलकें नीची कर लेतीं। उनमें एक ललक अवश्य दीख पड़ती थी कि इस सुन्दर युगल के विषय में उन्हें जानकारी मिले। ये कौन हैं ? कहाँ के हैं ? यहाँ कैसे ? आदि साधारण से प्रश्न उनके मन में विचरने लगे। वे इनके उत्तर जानने को उत्सुक थीं। तब पहल तरंग ने ही की थी। वह उठकर इन ग्रामवधुओं के पास आयी। पूछने पर इन्होंने बताया—वे खायग ग्राम की हैं। यहीं समीप ही है। यह सामने चढ़ाई आ जाने से यहाँ से दिखायी नहीं पड़ता···पर चढ़ने से गाँव का मन्दिर दिखायी देने लगता है। हम तो दिन में तीन-चार बार यहाँ आ जाती हैं ! तुम कौन हो ?

अपनी बारी आने पर तरंग ने भी संक्षेप में अपने विषय में बताया। उन सरलमना स्त्रियों को इतना जानकर ही सन्तोष हो गया कि ये दोनों पति-पत्नी हैं। इन्हें कौशाम्बी जाना है। कुछ विश्राम के लिए यहाँ रुक गये हैं। स्त्रियों से उसने ग्राम के विषय में भी पूछा—वहाँ कोई धर्मशाला है ? पता लगा कि गाँव के भीतर एक और मन्दिर है उसके पास में ही धर्मशाला भी है। एक स्त्री ने कहा हमारे साथ चलें। हम दिखा देंगीं। इन स्त्रियों के संग ही ये लोग गाँव में पहुँचे। गाँव में कुछ लोगों ने अभिवादन भी किया। अपनत्व दिखाते हुए पूछा भी कि किनके यहाँ आये हैं। परदेसी हैं, पथिक हैं यह जानकर चुप भी हो गये। किसी ने इनकी आवश्यकता की जानकारी नहीं ली। ये धर्मशाला में आ गये। मंगलसूत्र गले में था, बस। अन्य आभूषण कोई नहीं था। साड़ी फटी हुई थी, थकान से तन बेहाल हो रहा था। फिर भी कुलीनता के लक्षण तो बोल-चाल में रग-ढंग में दिखायी ही दे जाते हैं। कोई इनकी विपन्नता का अनुमान नहीं लगा पाया।

कोरी खटिया पर लेटी तरंग यही सब कुछ सोच रही थी। पद्मदेव काम की खोज में गये हैं—आते ही होंगे। अब तो भूख बड़ी तीव्र हो गयी।

उसने फिर कुछ पानी पी लिया। अपनी बाँह को ही तकिया बनाकर विश्राम करने लगी। पद्मदेव अपने साथ भोजन लेकर आ गया। खूब सारा भोजन था। गरम-गरम पूरियाँ, दो-तीन तरह के शाक, मिठाइयाँ, और न जाने क्या-क्या ? केले के पत्तों पर परसते हुए तरंग को लगा जैसे ये कुछ पल निकालना भी कितना भारी हो रहा था। उसने त्वरा के साथ परोसने का कार्य पूर्ण किया। दोनों ने स्वाद लेकर भरपेट भोजन किया। बड़ा आनन्द था इस भोजन में।

× × ×

जब झकझोर कर उसे जगाया गया तो उसकी··· उसकी आँख खुली। अभी भी नींद आँखों में खुली हुई थी। वह उठ बैठी, तो भूख के मारे फिर सिर में एक चक्कर आया। उसने देखा उसके स्वामी लौट तो आये हैं, पर खाली हाथ आये हैं। निराशा के कारण वह टूट कर मानो गिर पड़ी।

"तरंग···तरंग···उठो। देखो कौन आये हैं ?" पति के इन शब्दों में कुछ ऐसा जादू था कि वह उठ बैठी और दोनों हाथों से आँखें मलकर देखने लगी। आँखें टिमटिमाते हुए वह बोली "कौन··· कौन काका हैं क्या ? कुल्माष काका···!" उसके मुख पर सहसा एक करुण हास छा गया।

"हाँ, बिटिया हाँ, मैं तेरा काका हूँ। कैसी है तू ? हाय ! दो ही दिन में क्या हालत बना ली है तूने अपनी, हाँ ?"—ममता भरी मुद्रा में काका ने कहा और आगे बढ़ आये।

"कुछ न पूछो काका···क्या-क्या संकट आये, कैसे-कैसे···।" तरंग बता ही रही थी कि कुल्माष हस्ती ने बीच ही में टोकते हुए कहा—"टल गये सारे संकट—अब टल गये बिटिया ! अब तो सुख के दिन हैं तुम्हारे। घबराने की कोई बात ही अब नहीं रह गयी है—" अन्य खटिया पर पद्मदेव के साथ बैठते हुए काका ने कहा—"तुम लोगों ने व्यर्थ ही में कौशाम्बी छोड़ी। क्यों किया तुमने ऐसा ? इसकी आवश्यकता ही नहीं थी।"

तरंग तो काका कुल्भाष हस्ती का मुख देखती रह गयी, अवाक् सी, अपने मुखमण्डल पर बड़ा सा प्रश्न चिन्ह फैलाये—क्या कह रहे हो काका ! इस आशय का भाव भाँपकर काका ने अपनी ओर से ही कहा—"हाँ, हाँ, मैं सच कह रहा हूँ। इसकी आवश्यकता थी ही नहीं।" कुछ विराम के पश्चात उन्होंने पद्मदेव की ओर देखते हुए कहा, "तुम्हारे

माता-पिता को तो कोई आपत्ति थी ही नहीं। उन्होंने तो आगे होकर तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव किया था। बहन सुनन्दा भी इस सम्बन्ध के पक्ष में थी। अतिशय ममतावश नगरश्रेष्ठी ऋषभसेन ही अपनी पुत्री को सार्थवाह परिवार में नहीं देना चाहते। बस इतनी सी बात थी। सो तो बाद में बिटिया, तुम्हारे पिताजी ने भी सहमति दे दी थी अपनी।"—तरंग की ओर देखते हुए काका ने कहा। एक सुखद आश्चर्य के साथ चहकती सी तरंग ने कहा—"सच काका! क्या सत्य ही पिताजी ने स्वीकार कर लिया? उन्हें कोई आपत्ति नहीं?" और वह काका से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी, अविचल, गम्भीर होकर। "यही तो कहता हूँ कि उनको भी कोई आपत्ति नहीं है।" अपनी बात पर बल देते हुए कुलमाष हस्ती ने दुहराया और बोले—"तुमने एक त्रुटि कर दी। तुम्हें अपने पूर्वभव की प्रीति की बात नगर श्रेष्ठी के कानों तक पहले ही पहुँचा देनी थी। सारा निर्णय वहीं हो जाता।"

तरंग और पद्मदेव दोनों गम्भीर, चुपचाप बैठे थे। काका ने तब उन्हें कौशाम्बी लौटने को कहा। कहा कि उन्हें ऋषभसेन सेठ ने ही इस निमित्त भेजा है। तरंग के पिता ने अनेक लोगों को इनकी खोज में भेजा था—अलग-अलग दिशा में। कुलमाष हस्ती कौशाम्बी के एक सम्माननीय नागरिक थे। तरंग के परिवार के साथ इनके मैत्री सम्बन्ध थे। इन्हें अपने पैतृक ग्राम प्रणाशक नगर जाना था। नगर श्रेष्ठी ने इन्हें भी यह कार्य सौंप दिया था कि अपने क्षेत्र में खोज कर लें। कल ही वे अपने ग्राम पहुँचे थे। आज सवेरे वे इस कार्य से आस-पास के क्षेत्र में निकले कि समीप ही के खायग ग्राम में सहसा उनकी भेंट पद्मदेव से हो गई।

पिताजी की सहमति की खबर पाकर तरंग प्रसन्न थी, असीम प्रसन्न। उसका मन-मयूर नाच उठा। काका के साथ अपने अश्वारोही अनुचर भी थे। धर्मशाला में ही पहले तो भोजन की व्यवस्था हुई और फिर कुलमाष हस्ती इन्हें अपने ग्राम में ले चलने की व्यवस्था करने लगे। तरंग का मन तो तुरन्त उड़कर कौशाम्बी पहुँच जाने को हो रहा था। माँ कितनी दुःखी होती होगी, पिताजी भी चिन्तित हो रहे होंगे। अब कोई समस्या ही नहीं रह गयी तो विलम्ब क्यों किया जाय। मन ही मन उसे पक्षियों से ईर्ष्या होने लगी कि उनके पास पंख हैं। वह भी और स्वयं पद्मदेव भी खायग से सीधे कौशाम्बी चले जाना चाहते थे, किन्तु कई

कारणों से कुल्माष हस्ती इसे उपयुक्त नहीं मान रहे थे। उन्होंने अपनी बात समझाकर कही और तरंग व पदमदेव ने स्वीकार कर लिया कि अभी कौशाम्बी जाने के स्थान पर कुछ दिनों के लिए प्रणाशक नगर में रुकना ठीक ही रहेगा।

× × ×

पद्मदेव के घर से उस अन्धेरी रात्रि में तरंग के कहने पर सारसिका इस प्रयोजन से निकली थी कि तरंग के घर जाकर कुछ आभूषण ले आए। वह तरंग के यहाँ पहुँच तो गयी किन्तु आभूषण लेकर लौट नहीं पायी। जब वह वहाँ से लौटने के लिए चलने को ही थी, उसी समय उसके पिता उसको बाहर से पुकारने लगे थे। कभी-कभी सारसिका अपनी सखी तरंग के यहाँ रात को भी रुक जाया करती थी। उस रात उसकी माँ का स्वास्थ्य सहसा बिगड़ गया और इस कारण पिताजी उसे लेने को आ गये। सारी बात ढकी रह गयी—यही बहुत है, यह सोचते हुए सारसिका ने तरंग के पास लौटने का विचार त्याग दिया। वह चिन्तित मुद्रा में अपने पिता के साथ चल दी थी। भोर होने पर सार्थवाह धनदेव और नगरश्रेष्ठी ऋषभसेन के परिवारों में कोहराम मच गया। आरम्भ में तो पद्मदेव नहीं है, कहीं चला गया है घर छोड़कर—बस यही स्थिति सामने आ सकी। उसके माता-पिता बहुत चिन्तित हुए। किन्तु उन्हें तरंग के विषय में कोई जानकारी नहीं थी। ऐसा ही ऋषभसेन के परिवार में था। उन्हें पद्मदेव के विषय में ज्ञात नहीं था। जब दोनों को एक-दूसरे की जानकारी हुई तो स्थिति स्वतः ही काफी स्पष्ट हो गयी। दोनों परिवारों को यह विचार स्थिर करने में विलम्ब नहीं लगा कि विवाह में बाधा आने के कारण तरंग और पद्मदेव दोनों संग-संग ही कौशाम्बी त्यागकर कहीं चले गये हैं। इन दोनों के अपने-अपने कक्षों की जो दशा थी वह भी इस अनुमान को पुष्ट करती थी।

सारसिका ने नगरश्रेष्ठी को विगत रात्रि की सारी घटना से अवगत करा दिया। उसे यह ज्ञात न था कि वे कहाँ गये हैं, यह वह बता भी नहीं सकी। उनके चले जाने की बात अवश्य ही उसने निर्भीकता और स्पष्टता के साथ कह दी। ऋषभसेन और सुनन्दा को कुछ रास्ता मिलने लगा। सारसिका से उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि वे एक-दूसरे से पृथक् रह नहीं सकते। उनका जन्म-जन्मान्तर का पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। पूर्वभव में

वे चक्रवाक-चक्रवाकी थे। यह बताते हुए उसने वह सारा वृत्तान्त सुना दिया जिसे सुनकर नगरश्रेष्ठी और भी गम्भीर हो गये। उन्होंने सोचा—सच है उस भव की चक्रवाकी ही जब इस भव की तरंग है और उसे अपना उस भव का जीवन साथी पद्मदेव के रूप में इस भव में मिल गया है तो भला वह उसका संग कैसे त्याग सकती है। उनका मिलना ही स्वाभाविक है, अनिवार्य और अपरिहार्य है। ऋषभसेन सोचने लगा—उसने पूर्वभव का प्रसंग हमसे छिपाया क्यों? अन्यथा कोई समस्या ही नहीं आती। उसे स्मरण आने लगा कि तरंग सरोवर देखकर अचेत हो जाया करती थी। पद्म उद्यान में सरोवर के तट पर चकवा-चकवी का जोड़ा देखकर भी वह अचेत हो गयी थी। बाद में उसने चक्रवाक-चक्रवाकी की करुण कथा को एक चित्रमाला द्वारा प्रस्तुत भी किया था—ये सभी तथ्य सारसिका के कथन की पुष्टि करने लग थे।

ऋषभसेन सबेरे स्वयं ही सार्थवाह धनदेव के पास पहुँचा। रथ की घर्र-घर्र ने धनदेव को सूचित कर दिया कि नगरश्रेष्ठी आये हैं। अब भी ऋषभसेन के प्रति उसके मन में गहन आदर भाव था। वह जानता था कि ऋषभसेन ने चाहे पूर्व में उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया हो—किन्तु मन मैला नहीं हुआ। नगरश्रेष्ठी के मन में कोई कुभाव न तब था और न ही आज है। अभी नगरश्रेष्ठी के आगमन का प्रयोजन भी वह कुछ-कुछ समझ रहा था। प्रसंग पद्मदेव और तरंग की करतूत का ही हो सकता है। कुछ ही क्षणों में धनदेव ने मानसिक तैयारी कर ली। वह लपक कर नीचे उतर आया, प्रांगण में वह रथ के समीप खड़ा मुस्कुराता रहा। ऋषभसेन रथ से उतरा और दोनों ने एक-दूसरे से स्नेह और आदरपूर्वक अभिवादन किया। शिष्टाचार के निर्वाह में दोनों एक-दूसरे से आगे थे। आवभगत के साथ धनदेव नगरश्रेष्ठी को अपने भवन के भेंट-कक्ष में ले आया। पारस्परिक वार्तालाप आरम्भ हुआ। तरंग के पिता ने ही आरम्भ किया। उसने अपना मनोभाव प्रकट हुए कहा था कि तरंग और पद्मदेव ने जो कुछ किया वह भला कार्य तो नहीं है, किन्तु अब हमारे दोनों परिवारों को विवेक से ही कार्य करना होगा। हमारा निर्णय अब बहुत महत्वपूर्ण हो गया। ऋषभसेन के मन्तव्य का समर्थन धनदेव ने अपनी भावभंगिमाओं से और कुछ वाचिक रूप में किया। तरंग के पिता ने अपना दोष बहुत ही स्पष्टता के साथ स्वीकार किया। उसने कहा कि यदि मैं इनके विवाह-प्रस्ताव को तब ही स्वीकार कर लेता तो आज यह स्थिति आती ही क्यों? पर मुझे यह

आभास भी नहीं कराया गया कि इन दोनों का प्रणय सम्बन्ध तो जन्म-जन्मान्तरों से चला आ रहा है, धनदेव जी ! यदि मुझे पूर्व में ही ज्ञात हो जाता कि चक्रवाक-चक्रवाकी के रूप में ये अपने पूर्वभव में जीवन सहचर रहे हैं, चक्रवाकी ने प्रेमातिरेक में अपने प्राणों का बलिदान तक कर दिया। क्या कोई शक्ति ऐसे प्रणय के मार्ग में बाधक हो सकती है। मैं लज्जित हूँ धनदेव जी कि मेरे कारण यह सब बखेड़ा हो गया। अपनी बारी में धनदेव ने भी पूरी सदाशयता का निर्वाह किया। उसे ऋषभसेन से रंचमात्र भी रुष्टता नहीं थी। उसने भी बड़ी गहनता के साथ अब तक इस सारी समस्या पर चिन्तन कर लिया था। उसने भी अपने चिन्तन का निष्कर्ष इस वार्तालाप में सामने रखा कि यदि वह विवेक से काम लेता तो भी समस्या टल सकती थी। आपको तो मेरे सार्थवाह व्यवसाय पर ही आपत्ति थी न ! यदि यह उस समय ज्ञात होता कि आगे चलकर स्थिति ऐसी बनेगी तो मैं आपकी बात को स्वीकार लेता और पद्मदेव को सार्थवाही से हटाकर स्थानीय व्यवसाय में लगा देता""सारी समस्या ही समाप्त हो गयी होती, पर मैंने भी इस बात को इतनी गम्भीरता से नहीं लिया था। किन्तु नगरश्रेष्ठी जी को उसने यह भी कहा कि जो बीत गयी है—उस पर पछताना सार्थक नहीं रहेगा। हमें आगे की बात सोचनी होगी। उसी से काम बनेगा।

धनदेव के विचार में औचित्य था। ऋषभसेन को इस सम्बन्ध से अब कोई आपत्ति थी ही नहीं तो कठिनाइयाँ तो स्वतः ही दूर हो गयी थीं। दोनों ने मिलकर यह निश्चय किया कि हम अपने-अपने चरों को सभी दिशाओं में भेजें, उन दोनों की खोज करें और उनको परिणय सूत्र में बाँध दें। इसी में उनकी-हमारी- सभी की भलाई होगी। निर्णयानुसार अनेक चरों को खोज के लिये भेजा गया। और कुल्माष हस्ती को संयोग से पहले प्रयत्न में ही सफलता मिल भी गयी।

प्रणाशक नगर पहुँचकर कुल्माष हस्ती ने इनके विश्राम और चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करवा दी। दो अश्वारोहियों को उसने कौशाम्बी भेजकर नगर श्रेष्ठी ऋषभसेन को शुभ संवाद प्रेषित करा दिया। पद्मदेव और तरंग के परिवारों में अपार-अपार हर्ष छा गया। त्यौहार का सा वातावरण बन गया। दोनों के अभिभावकों के उत्साह की, उमंग और उत्साह की कोई सीमा ही नहीं रही। दोनों श्रेष्ठियों ने

एक-दूसरे को गले लगाकर समधियों के से सद्व्यवहार का आदान-प्रदान किया। दोनों समधिनियों ने भी हार्दिक उल्लास व्यक्त किया। यह ज्ञात हो जाने पर कि कुलमाष हस्ती के यहाँ, समीप के ही प्रणाशक नगर में ये दोनों हैं, ये अभिभावकगण भला कैसे चैन से बैठे रह सकते थे। तरंग और पद्मदेव का गांधर्व विवाह हो चुका है—यह सूचना भी इन्हें मिल गयी थी और इससे इन्हें असीम सन्तोष अनुभव हुआ। वे प्रणाशक नगर जाकर इस नव दम्पति को कौशाम्बी ले आना चाहते थे। ऋषभसेन का यह विचार भी बना कि प्रणाशक नगर में ही इनका विधिवत विवाह सम्पन्न करा दिया जाय और नवदम्पति के रूप में ही इन्हें कौशाम्बी लाया जाय। विचार नवीन अवश्य था, किन्तु स्वागत-योग्य भी था। सभी को यह विचार अच्छा लगा और स्वीकार कर लिया गया। तदनुसार ही तैयारियाँ होने लगीं और कौशाम्बी से विशाल दल प्रणाशक नगर की ओर चल पड़ा।

यह सारा वृत्तान्त सुनाते-सुनाते साध्वी जी तनिक भावुक हो उठीं। उनका कंठ आर्द्र हो आया। इस परिवर्तन का कारण श्रेष्ठिनी सोमावती समझ नहीं पायी। उसे सम्बोधित करते हुए साध्वीजी ने रहस्योद्घाटन की मुद्रा में कहा—"कुलमाष काका के घर में समारोह पूर्वक हमारा विवाह सम्पन्न हुआ। सबकी आशिष, सबकी शुभकामनाएं हमें मिलीं। पिताजी ने प्रसन्नतापूर्वक कन्यादान किया। दोनों परिवारों ने एक-दूसरे को बधाइयाँ दीं। सभी प्रसन्न थे शायद सर्वाधिक प्रसन्न हम दोनों थे।" यह कहते हुए एक पल को रुककर साध्वीजी ने सोमावती का मुख निहारा और बोलीं—"आश्चर्य न करो मैं ही इस भव की तरंगवती हूँ, मैं ही पूर्वभव की चक्रवाकी रही थी।" कथन ने सेठानी सोमावती की दशा कुछ की कुछ कर दी। वह कुछ कहना चाहती थी। उसका मुख खुला, पर खुला ही रह गया, वह अवाक् रह गयी।

× × ×

"सुनो, सेठानी सोमावती! तुम अब आगे की कथा और भी ध्यान से सुनो।" साध्वी तरंगवती ने गम्भीर होते हुए कहा। उनके मुख मंडल पर स्मृति-जागरण का भाव स्पष्टतः दिखायी देने लगा था। उन्होंने कथा-रंभ किया—

विधिवत् विवाह के उपरान्त मुझे और मेरे पतिदेव—हम दोनों को

हार्दिक प्रसन्नता थी। कौशाम्बी नगर के ठीक बाहर हमारे उद्यान में हम लोग सदल-बल पहुँचे। प्रणाशक नगर से निकलकर हमें एक लम्बी यात्रा करनी पड़ी। एक रथ में हम नवदम्पति थे, अन्य रथ में हमारे आगे-आगे मेरे माता-पिता और एक अन्य रथ में पद्मदेव के माता पिता आरूढ़ थे। मेरे आठों भाई और भाभियाँ, हमारे गृह मित्र कुल्माष हस्ती और अन्य अनेक जन थे। मार्ग में हम वासालिक ग्राम में कुछ समय के लिए रुके। इस ग्राम के बाहर सुन्दर प्राकृतिक वातावरण है। यहीं एक बहुत प्राचीन वट वृक्ष है। हम लोग वहीं रुके। भगवान महावीर ने गृह त्याग के पश्चात् इस वट के नीचे कुछ समय वास किया था। अतः इस वृक्ष को 'वासालिक' कहा जाने लगा। अपने इस गौरव के कारण इस वट वृक्ष को तीर्थ की महत्ता मिलने लगी। इसके समीप धीरे-धीरे एक ग्राम बस गया—उसे भी इसी नाम—'वासालिक' से जाना जाने लगा। उस पुनीत तरु के दर्शन मात्र से मन में धर्म-प्रेरणा जागृत होने लगी। श्रद्धा सहित स्पर्श करने से तो मेरे मन में एक अद्भुत भाव गतिशील होने लगा। धर्मानुराग का वह मानसिक वातावरण मुझे बड़ा भला लगा।

कौशाम्बी में नगर के समीप का हमारा उद्यान भी बड़ा सुन्दर था। हमारे स्वागत में तो इसे इस समय और भी विशेष रूप से सज्जित किया गया था। प्रभात वेला में हम लोग वहाँ पहुँच गये थे। हमारे अन्य स्वजन, परिजन एवं सम्पर्कीजन वहाँ पहले से उपस्थित थे। मेरे पतिदेव का सारा परिवार एवं उस पक्ष के अन्य जन भी निमन्त्रित थे। हमारे पूर्वभव का प्रसंग भी सभी लोगों को ज्ञात हो गया था। इस कारण सभी जन हम दोनों को एक अद्भुत, विचित्र, नयी-नयी दृष्टि से देखते, हमें देख-देखकर परस्पर खुसफुसाने लगते। कोई-कोई तो अकेले ही, होठों ही होठों में कुछ-कुछ बुदबुदाने लगते थे। सभी परिचित जन भी ऐसे लगते थे जैसे वे मुझसे पहली बार मिल रहे हों। मेरी प्यारी सखी सारसिका ने इस अवसर पर बड़े ही कौशल और चातुर्य का परिचय दिया। उसने चक्रवाक-चक्रवाकी कथा की वह चित्रावली यहाँ उद्यान में प्रदर्शित कर दी। लोगों ने बड़े चाव से, बहुत उत्साह से इसे देखा। हमारे पूर्वकृत्य में अब किसी को अनौचित्य प्रतीत नहीं होता था। सभी ने अब पिताजी की प्रशंसा की कि वे दुराग्रही नहीं रहे, परिस्थितियों के आग्रह पर उन्होंने अपना मत, अपना दृष्टिकोण बदल दिया। इस लचीलेपन के कारण सबके मन में उनके प्रति आदर-भाव बढ़कर कई गुना हो गया।

दोपहर को पिताजी ने एक विशाल प्रीतिभोज का आयोजन किया था। सायं विधिवत विदाई की गयी। सजी-सजाई डोली प्रतीक्षा कर रही थी। महिला संगीत ने वातावरण को असाधारणतः भावुकता-संकुल बना दिया था। इस बोझिल वातावरण ने मेरे भीतर एक विह्वलता, एक व्याकुलता को विकसित कर दिया था। श्रावण की घटाओं से आर्द्र पलकें बार-बार बरस पड़ने को हो रही थीं। उस दिन मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा कि कलेजा मुँह पर आना किसे कहते हैं। प्रचलन के अनुसार औपचारिक प्रक्रियाएँ हुईं और हम डोली की ओर बढ़े। सखियाँ विदाई गीत गा रही थीं। माँ मुझे बाँह पकड़कर सहारा दिये चल रही थी। पिताजी का मन भारी हो आया था। दोनों ने विदाई के इन क्षणों में अनेक शिक्षाएँ दीं। माँ ने कहा कि मैं अपने सास-ससुरजी को अपने माता-पिता से भी अधिक सम्मान दूं, सभी स्वजन-परिजनों को मैं यथायोग्य स्नेह-आदर का पात्र समझूं। पतिदेव को अपने जीवन का नियन्ता स्वीकार करूँ। उनके प्रत्येक निर्देशादेश का अक्षरशः पालन करने में ही मेरे विवाहित जीवन की सफलता रहेगी, उनकी अभिलाषा से भिन्न मेरी कोई इच्छा-आकांक्षा हो ही नहीं। हम 'दो तन, एक मन' रहें। काया तो बस वे ही रहें—मैं उनकी छाया सी रहूँ। पतिदेव के विषय में मेरे मन में पहले से ही उच्च भावनाएँ थीं, अतः माता के कथन भले—बहुत भले लगे।

पिताजी भी चलते-चलते कहते जा रहे थे कि धर्म इस जगत् और जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है। यही सम्पदा व्यक्ति को सच्चा सुख, शांति, सन्तोष और सद्गति दे सकती है। सुकर्म और सुधर्म का पल्ला पकड़े रहने वालों को ही आत्मिक उत्थान प्राप्त होता है। पिताजी के कथन अमृत-सम मधुर, प्रिय लग रहे थे। अनायास ही बढ़ते चरण रुक गये। धर्मोपदेश-प्राप्ति को उत्सुक हो मेरी सलज्ज पलकें भी क्षणेक को ऊपर उठीं और मैं शब्द-सुधा की प्रतीक्षा करने लगी। पिताजी कह रहे थे कि मुझे कभी भी धर्माचरण का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए। संकटों की कसौटी पर भी मेरा धर्माचरण अडिग और खरा उतरना चाहिए—तभी मैं नगरश्रेष्ठी के परिवार के अनुकूल अपने आपको सिद्ध कर पाऊँगी। प्राण-मात्र के प्रति करुणा और हित की भावना हो, मन-वचन-कर्म से अहिंसा का निर्वाह करूँ। लोभ, मोह, माया के प्रति ममता—इनसे दूर रहूँ और आत्मोत्थान की साधनाओं, व्रतों, उपवासों, तपश्चर्याओं को श्रद्धेय मानूं, उनका अनुसरण करूँ। अने-

कान्त दृष्टिकोण को अपनाऊँ। अपने और केवल अपने विचारों, मतों को उपयुक्त मानते रहने का दुराग्रह न पालूँ, अन्य जनों के विचारों में समुचित सत्य और औचित्य की सम्भावनाओं को भी अपने मन में यथार्थ महत्ता दूँ। उपेक्षा मनुष्य मात्र का मित्र बनने का अनुपम मार्ग है। क्षमाशील होने की अपेक्षा भी उपेक्षा की भावना अधिक धर्मसम्मत, अधिक मानवीय है। किसी के द्वारा किये गये अपने अहित की ओर, कुविचार की ओर ध्यान न देना—मन की शान्ति के लिए इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं हो सकता। धर्म को गुरु, धर्म को मित्र, धर्म को ही रक्षक मानूँ। अनायास ही आन्तरिक प्रेरणा से मेरे हाथ जुड़ गये। मैंने माता-पिता के प्रति श्रद्धापूर्वक नमन किया। झुक कर पिताजी के चरणों का स्पर्श कर मैं माताजी की ओर झुकी। उन्होंने मुझे भुजाओं से पकड़कर उठा लिया। गले से लगाकर हार्दिक स्नेह दिया। भाल चूम कर उन्होंने मुझे विदा किया। सखियों ने मुझे सहारा देकर फूलों से सजी डोली में बिठा दिया। उन्होंने भी माताजी-पिताजी के चरण छूकर आशिषें प्राप्त कीं और अश्वारूढ़ हो गये। माताजी मेरे समीप आयीं। मेरे आँचल को उन्होंने ठीक किया और डोली का परदा गिरा कर मुख एक ओर को कर लिया। सभी भाभियाँ भी डोली को घेर कर खड़ी थीं। सहसा एक मूक रुदन फूटने को हुआ। मेरे अग्रज जन सभी डोली के पास आ गये। पिताजी ने कहारों को संकेत किया, डोली उठी और मंथर गति से चल पड़ी। सभी ओर से डोली पर पुष्प-वर्षा होने लगी। मेरे चार-चार भाई डोली को आजू-बाजू चलते रहे। जीवन का एक नवीन अध्याय यों आरम्भ हुआ।

※※

१४

"अब मेरा अपना घर हो गया था सेठानी सोमावती"—साध्वी तरंगवतीजी ने कहा और एक क्षण को वे मौन हो गयीं। उनके मुख-मंडल पर कोई भाव विशेष नहीं आया। थूक निगलते हुए उन्होंने फिर अपनी बात निरन्तरित की। "दीवारें तो पहले ही थीं जिनसे मकान बना हुआ था। मैंने जाकर उसे घर का रूप दिया था। मेरे सास-ससुर भी इसे मानते थे, पतिदेव भी मानते थे। एक मेरे पहुँच जाने से वहाँ आनन्द व्याप्त हो गया। धन से सुविधाएँ मिल सकती हैं, सुख और आनन्द नहीं। उसकी पूर्ति मेरे द्वारा हुई।

हमारा पारस्परिक प्रेम दिन प्रतिदिन विकसित ही होता चला गया। हम मानों एक दूसरे के लिए ही थे। सास मुझे माता से भी अधिक स्नेह करतीं। उनको हर क्षण यह ध्यान रहता कि किसी भी कारण से मेरे मन को भी ठेस नहीं पहुँचे। यद्यपि मेरी क्षमता भी नहीं थी और कामना भी नहीं थी, फिर भी मेरी सासू माँ मुझे गृह-संचालन का अधिकार दे देना चाहती थीं। पिताजी तो देवपुरुष थे। उनके व्यवहार में मेरे लिए विशेष कोमलता थी। उनके संरक्षण में ही हमारा जीवन व्यतीत हो रहा था।" इतना कहकर साध्वीजी कुछ क्षण और रुकीं। एक लम्बी साँस ली, कुछ मानसिक तैयारी कर उन्होंने अपना कथन पुनः आरम्भ किया—

तुम तो सोमावती ! स्वयं नारी हो, समझ सकती हो इस बात की महत्ता को कि मातृत्व में ही नारीत्व की सम्पूर्ति रहा करती है। इस वरदान से वंचिता स्त्री न केवल अपूर्ण रह जाती है; वह उपेक्षा की पात्र भी बन जाती है। मुझे भी सारे सुख उपलब्ध थे, किन्तु सन्तान का सुख मेरे भाग्य में नहीं था। वैसे भी किसी का भी केवल सुख ही सुख नहीं मिलते। किसी को कोई, तो किसी को कोई दुःख संतप्त करता ही रहता

है। किन्तु मेरे इस दुःख की कसक भीतर बहुत गहराई तक मुझे सालती थी। इसका कारण भी था। सन्तान-सुख से अकेले मेरे या मेरे पतिदेव का ही सम्बन्ध नहीं था। सासू माँ और पिताजी भी पौत्र का मुँह देखने को तरस गये थे। उनकी हार्दिक कामना यह भी थी कि वंश-बल्लरी फैले। घर-आंगन शिशु की किलकारियों से गूंजता रहे। आरम्भ में कुछ वर्षों का समय सुख-शान्ति से व्यतीत हुआ। एक अभाव अनेक कुभावों को जन्म देता है। धीरे-धीरे मेरी उपेक्षा भी होने लगी। पतिदेव के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आया—यह सत्य है, किन्तु अन्य जनों के व्यवहार से यह विदित होने लगा था कि जैसे मैं उनकी आशा के अनुकूल सिद्ध नहीं हो पायी हूँ। फिर भी मैं यह नहीं कहती, कह नहीं सकती कि मेरे साथ कोई दुर्व्यवहार हुआ हो। ऐसा कहने का कोई कारण ही नहीं रहा।

अभी एक उदासी ही थी—निराशा नहीं थी वह। क्योंकि सन्तान-प्राप्ति की असम्भावना अन्तिम रूप से स्थापित हो गयी हो—ऐसा नहीं था। बस यही था कि कब हमारे घर में भी यह कुलदीपक का प्रकाश फैलेगा—अब तो फैलना चाहिए !! यही सोच चलता रहता। विलम्ब अखरता था, बस ! इस अधीरता में भी उनके लिए एक उमंग थी, इस प्रतीक्षा में आनन्द था। चार-पाँच साल बीत जाने पर स्थितियाँ विषम होती चली गयीं। उन लोगों की आशाएँ धूमिल होने लगीं। अनिश्चय की धुन्ध के मध्य निराशा झलकने लगी।

सासू माँ का विचार था कि शिथिल होकर भाग्य के भरोसे बैठे रहने की अपेक्षा समस्या के समाधान का उपाय किया जाना चाहिये। उपाय न करना भी पलायन का ही एक रूप है। उनका बार-बार आग्रह रहा करता था कि राजवैद्यजी से परामर्श किया जाय। यदि कोई सामान्य अवरोध है तो दूर किया जा सकता है। क्यों हम अनिश्चित को अन्तिम स्थिति मानकर बैठें। पिताजी का भी दृष्टिकोण इसी प्रकार का रहा करता था। मैं समझती थी कि जो सुख अपने लिए नहीं बना है उसकी कामना ही दुःख का मूल है। मैंने जो प्राकृतिक स्थिति थी उसके यथार्थ को अंगीकार कर लिया। अतः न तो कामना शेष रही थी और न ही उसकी अपूर्ति का दुःख। पर दुःखी मैं भी थी। परिजनों के दुःखों से ही मैं दुःखी थी। उनकी ललक और तड़प मुझे तड़पा जाती थी। उनकी निराशा से मैं अधीर हो जाती थी।

पद्मदेव इस कुल के एकमात्र पुत्र थे। उनसे ही सभी लोगों की

आशा की डोर बँधी थी—ऐसा होना स्वाभाविक भी था। जब कुछ और समय निकल गया तो उनके माता-पिता को वंश-रक्षा की चिन्ता सताने लगी। कभी-कभार उनकी यह चिन्ता मुखरित भी हो जाया करती थी। पद्मदेव इससे बड़े क्लेशित और कुंठित हो जाते। वे भी उदारवादी रुख रखते थे, किन्तु जब किसी पारिवारिक अनिवार्य शुभ का दायित्व उन पर हो और वे उसे निभा नहीं पा रहे हों तो उसका प्रभाव होना ही था। उनका विचार मैं भली भाँति जानती-समझती थी, किन्तु उनका विचलित हो जाना मुझे भी हिला देता था।

उनके प्रेम में न कोई कमी आने लगी थी, न ही कोई अवास्तविकता। हमारा अपना व्यवहार पूर्ववत् ही बना रहा। वे भी मानते यही थे कि यथार्थ को अंगीकार न करके मिथ्या संघर्ष करते रहना विफलता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सकता। किन्तु पारिवारिक वातावरण से प्रभावित रहना भी उनके लिए स्वाभाविक ही था। एक दिन परिवार में हुई लम्बी चर्चा के बाद मैंने उन्हें उदास और अन्तर्मुखी पाया। कदाचित् यह पहला अवसर था जब मुझे चर्चा में सम्मिलित नहीं किया गया। मुझे इसके कारण कोई क्षोभ न था, किन्तु यहीं से मैं पारिवारिक उपेक्षा का आरम्भ मानने लगी थी। मैं चाहे उपस्थित नहीं रही—पर चर्चा के विषय का अनुमान कठिन नहीं था। उसकी पद्मदेव पर हुई प्रतिक्रिया से अनुमान की पुष्टि भी होती थी।

रात्रि के एकान्त में मैंने उन्हें धीरज दिलाया। दुःखी होना व्यर्थ है। मैंने उनसे कहा कि आपकी स्थिति को मैं समझ सकती हूँ। वंश को कुलदीपक की आवश्यकता बनी रहती है—इसे भी मैं जानती हूँ। इसलिए परिवार का चिन्तित रहना असाधारण भी नहीं कहा जा सकता। क्या हम यों ही घुटते रहें और समस्या के समाधान का कोई उपाय नहीं करें—यह ठीक होगा? सबके हित में हमें कुछ करना ही चाहिये। दुःखी मन से ही उन्होंने मेरी ओर ताका और कहा कि मैं तो सब कुछ जानती हूँ। उपाय कोई है ही नहीं। फिर क्यों विफलता का दुःख मोल लेने को उपाय का आसरा लिया जाय? मुझे उस गम्भीर वातावरण में भी कुछ हँसी आ गयी। उसे मुस्कुराहट में बदलते हुए मैंने कहा, उपाय क्यों नहीं है? उपाय तो हो सकता है, यदि हम करना चाहें। उन्होंने फिर गम्भीर होकर पूछा कि मेरा अर्थ क्या है? मैं किस उपाय की चर्चा करने लगी—यह नया कौन सा उपाय आ गया?

मैंने तनिक गम्भीर होते हुए परामर्श दिया कि वे एक विवाह और कर लें। उपाय हो जायगा और वह सफल भी हो जायगा। सन्तति सुख मेरे ही भाग्य में तो नहीं बदा है, वे तो पिता होने का गौरव प्राप्त कर ही सकते हैं। तो फिर माता-पिता को पौत्र-सुख से वंचित क्यों किया जाय, वंश-प्रसार को भी क्यों अवरुद्ध किया जाय ? मेरे इस सुझाव पर उन्होंने तनिक भी नहीं सोचा, इसे कदाचित् विचारणीय ही नहीं माना और तुरन्त इस पर अपनी रुष्टता प्रकट कर दी। उनका अनुराग-भाव भला ऐसे विषय को अनुमति देता भी कैसे ! उन्होंने कहा कि तरंग ! यह तुम्हारा हमारा नाता आज का या इस जीवन का तो है नहीं। पूर्वभव में भी हम युगल रूप में रहे हैं—उसके पूर्व भी रहे ही होंगे। मैंने ऐसा विचार भी अपने मन में क्यों आने दिया ? उन्हें तो आश्चर्य था कि जिस चक्रवाकी ने अपने एकनिष्ठ प्रेम के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर दिया था—वही आज तरंग के रूप में कैसा प्रस्ताव कर रही है। क्या वह अपने प्रियतम को एकनिष्ठ प्रेमी नहीं रहने देना चाहती ? उनकी प्रेमपंथ की यह यात्रा विचलन रहित थी। वे अपने हृदय में किसी अन्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने अविलम्ब यह सुझाव ठुकरा दिया और मुझे सचेत भी किया कि भविष्य में मैं ऐसा विचार मेरे मन में भी न आने दूं। मुझे लगा कि मेरी बात से उनके मर्म को आघात पहुंचा। इससे मुझे भी क्षोभ हुआ। पश्चात्ताप होने लगा मुझे कि यह सुझाव क्यों रख दिया ? कुछ समय के लिए हम अन्तर्धान हो गये, अपने-अपने विचारों में खो गये।

कुछ कालोपरान्त उन्होंने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा कि मानव-योनि की यदि यही प्रवृत्तियाँ हैं, तो हमें नहीं अभीष्ट है यह भव। वह पक्षी जीवन ही हमारा कितना निश्चिन्त था, कितना स्वच्छन्द और निर्लिप्त ! सच्चे प्रेम को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। ये हमारे प्रेम की कसौटियाँ हैं। इन पर खरा न उतरा, अडिग न रहा तो फिर वह प्रेम ही कैसा ! उनकी बातों में सार था, स्वाभाविकता थी, वे इससे इतर न कुछ सोच सकते थे, न ही कुछ व्यक्त कर सकते थे। इस से अन्यथा कुछ निश्चय कर सकना तो उनके लिए असम्भव था। एक उदास मुस्कान के साथ उन्होंने उलाहने के स्वर में कहा कि मैं तो बड़ी स्वार्थी हूँ। स्वयं एकनिष्ठ प्रेम का निर्वाह कर लूं, समर्पिता बनी रहूं और उनको अनुराग-मार्ग से च्युत कर दूं—यही चाहती हूँ। उनका व्यंग स्पष्ट था। मैं समझ गयी।

परिवार में निर्वंसता के लांछन को मूल प्रश्न बनाकर जिन-जिन बातों का लक्ष्य मुझे बनाया जा रहा था—मैं उस कारण से विचलित हो गयी थी—यथार्थ इतना ही है। मैंने उनके प्रेम को परखने के लिए यह विकल्प प्रस्तुत किया हो—सा बात नहीं है। मैंने इसके लिए आश्वस्त कराना चाहा और उनकी महानता और उच्चाशयता की कोई सीमा ही नहीं रह गयी, जब उन्होंने कहा कि इसकी भी आवश्यकता नहीं, उन्हें रंचमात्र भी ऐसा कोई सन्देह मेरे विषय में नहीं है। परस्पर विश्वास प्रेम-बल्लरी को सींचता है। सन्देह का विष तो उसके मूल में पहुँचकर उसे सुखा डालता है, नष्ट कर देता है। सच्चा प्रेम प्रचण्ड आँधियों में भी अविचलित रहता है।

उस दिन उनके मुख से उनके मन में जो प्रेम मेरे प्रति था, उसकी दृढ़ता से मुझे सन्तोष हुआ। इससे भी बढ़कर प्रसन्नता तो मुझे उनके उस अडिग विश्वास से हुई जो उन्होंने मेरे प्रति व्यक्त किया, मेरी प्रीति को उन्होंने अपने लिए एकनिष्ठ माना—मेरा तो मन-मयूर नृत्य ही करने लगा। इसके पश्चात् कुछ कहने की स्थिति ही नहीं रह गयी थी। कहने को तो मैं यह भी सोच रही थी कि अन्य विवाह से परिजनों का, अभिभावकों का, वंश का हित होगा; वहाँ उससे हमारे अनुराग भाव को रचमात्र भी हानि नहीं होगी। वह नवदाम्पत्य अपने स्थल पर रहेगा—अपना प्यार अपने स्थान पर यथावत् बना रहेगा—कोई भी किसी के मार्ग में नहीं आएँगे। यह मैं कह नहीं सकी। सोच-विचार की दिशा ही परिवर्तित हो चुकी थी। हम अपने-अपने विचारों में खो गये थे। वातायन से बाहर आकाश में झाँका। मेघों की उमड़-घुमड़ थम गयी थी, स्थिर होकर ही मेघ वर्षा करते हैं, शीतलता देते हैं। हमारे मनों में भी शान्तिदायक विचार पुनः स्थिर हो गये थे। बड़ी देर तक कक्ष में मौन छाया रहा। चम्पई अंधेरा धीरे-धीरे सुरमई होता जा रहा था और हम अचंचल, मौन, शांत विचारलीन बैठे रहे।

× × ×

हाँ, सुनो सोमावती सेठानी! एक महत्वपूर्ण प्रसंग तो छूटा ही जा रहा है, मेरी प्यारी सखी सारसिका का प्रसंग! उसका जीवन भी सुखमय था। मेरे विवाह के कुछ ही दिनों पश्चात् उसका भी विवाह सम्पन्न हो गया था। कौशाम्बी के ही एक धनाढ्य परिवार में विमलकुमार के संग

उसका परिणय हुआ। परिणय के पश्चात् विकसित उनका पारस्परिक प्रणय भी बड़ा गहन, वास्तविक और एकनिष्ठता-भरा था। ये दोनों भी समझो कि एक-दूजे के लिए ही थे। यह भी एक सुखी-संतुष्ट युग्म था। उनका—हमारा पारिवारिक सम्बन्ध तो सुदृढ़ था ही—दोनों युगलों का पारस्परिक साहचर्य भी बना रहता था। हम चारों की भेंट प्रायः प्रतिदिन ही होती रहती।

कालचक्र तो अपनी धुरी पर घूमता ही रहता है। पल—लघुतम कालखण्ड है, किन्तु पल-पल मिलकर ही घड़ी, दिन-रात, माह, वर्ष और आयु का गठन कर देते हैं। पल खिसकते रहे—आयु बढ़ती रही। देखते ही देखते हमारे दाम्पत्य जीवन को आठ वर्षों की आयु प्राप्त हो गयी। सारसिका को पहले एक पुत्र और उसके पश्चात् एक पुत्री की प्राप्ति हुई। बड़े प्यारे-प्यारे बच्चे थे। मेरा तो उनके प्रति विशेष, हार्दिक स्नेह रहा। वे भी, जब भी मिलते—मेरे आगे-पीछे घूमते रहते। उन्हें देखकर ही मैं अपने अभाव को भूल ही जाती थी। विमलकुमार के और उनके मध्य भी गहन मैत्री विकसित हो गयी थी।

समय यों ही बीतता चला जा रहा था। संग-संग खट्टी-मीठी स्मृतियाँ छोड़ता हुआ जीवन भी बीतता जा रहा था। सासू माँ का स्नेह मेरे प्रति कम होने लगा हो—यह तो कहा ही नहीं जा सकता था। हाँ, जो अभाव था, उसकी स्मृति आने पर वे अधीरता की सीमा तक विह्वल हो उठतीं। पुजारी की दौड़ मंदिर तक—सासू माँ भी अपने बेटे से बारबार आग्रह करती रहतीं कि राजवैद्य से परामर्श ले लिया जाय। वे भी प्रकटतः इस सुझाव का विरोध नहीं किया करते थे, किन्तु उनकी आंतरिक आस्था भी ऐसे प्रयत्नों के प्रति कभी नहीं रही। धर्मप्रियता हम दोनों की ही बढ़ती जा रही थी। नियमित रूप से धर्मक्रियाएँ, व्रत-उपवासादि भी चलते रहते। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पंच अणुव्रतों को हमने अपने आचरण में उतारने की साधना अपना ली थी। प्राणि-मात्र के प्रति हितैच्छा और मैत्री हमारे जीवन का संकल्प हो गयी थी। अहिंसा का पालन अधिकतम सीमा तक कर सकें—हमारा यह प्रयत्न भी सफल होता जा रहा था। अनेकान्त दृष्टिकोण ने हमें विशाल हृदयता भी प्रदान की और हम सभी के स्नेह-सौहार्द के पात्र बनते चले गये। नवकार महामंत्र तो हमारा एक ऐसा सशक्त आश्रय हो गया था जो हमें अभय और शक्ति प्रदान करता था।

आज भी मैं चिन्तन करती हूँ, सेठानी सोमावती ! तो मुझे आश्चर्य होता है, उस भयावह उद्वेलित वातावरण में भी हम दोनों उससे अप्रभावित, सर्वथा शान्तिमय, क्षोभहीन जीवन बिता पा रहे थे। यह कदाचित् धर्माचरण का ही प्रभाव था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा धर्मानुराग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था, आत्मिक उत्कर्ष भी उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में होता जा रहा था। हमारी हर भोर धर्मग्रन्थों के परायण से ही आरम्भ होती थी। तदुपरान्त हम रथारूढ़ होकर नगर के बाहर अपने उद्यान तक जाते। उद्यान में विचरण करते–धर्म चर्चा करते। हम समय उन्मुक्त वातावरण में बिताते और लौट आते थे। धर्म हमारे लिए आनन्द का पर्याय हो गया था। हमारा जीवन ही धर्म था और धर्म ही जीवन था।

卐卐

१५

रथ में बैठे हमने दूर से देखा कि हमारे उद्यान के बाहर एक छोटी सी भीड़ एकत्र थी। लोग तो कुछ अधिक ही थे, किन्तु शोर तनिक भी नहीं था। हम लोग कुछ समझ नहीं पाये कि बात क्या है ? कुछ समीप पहुँचे तो पता लगा कि कोई मुनिजी उद्यान में विराजमान हैं। हमने भी वहीं दूरी पर ही रथ को रोक लिया और नीचे उतर पड़े। पाँव-पाँव ही हम उद्यान तक पहुँचे ! करबद्ध, श्रद्धावनत, मुनि महाराज के समक्ष हम भी उपस्थित हुए। एक वट वृक्ष तले, पक्के चबूतरे पर ध्यान लीन बैठे मुनिजी की बड़ी गम्भीर मुद्रा थी। अविचल, शान्त, अन्तर्ध्यान—बड़ा भव्य व्यक्तित्व था। प्रथम दृष्टि से कुछ ऐसा आभास हुआ कि कहीं पूर्व परिचय रहा हो, किन्तु आगामी क्षण ही मन में उठी असम्भावना ने इस विचार को नकार दिया। उनके मुखमण्डल से अद्भुत तेज प्रसारित हो रहा था। मन का सन्तोष मुख पर शान्ति का भाव बनकर छाया था।

कुछ समय के पश्चात् ध्यान-सम्पूर्ति पर महाराज ने पलकें खोलीं। उनके नेत्रों में भी अद्भुत ज्योति थी। उनका रोम-रोम मानो सर्वजन हिताय साधना में रत था। उपस्थित धर्मानुरागियों के साथ हमने भी चरण वन्दना की। नमनपूर्वक धर्मोपदेश ग्रहण किया। हमारे मन में भी प्रतिक्रिया-स्वरूप अपार शान्ति व्याप्त हो गयी। प्रायः प्रतिदिन ही हम दर्शनार्थ उपस्थित होने लगे। एक अन्तःप्रेरणा ऐसी जागृत हुई कि अधिक से अधिक समय तक हम महाराज की सेवा में उपस्थित रहने लगे। हमारे मन पर मुनिश्री का कुछ असाधारण प्रभाव भी अंकित होने लगा था।

जैसे सोमावती आज तुमने मुझसे प्रश्न किया है न, वैसा ही प्रश्न मेरे मन में उमड़ने-घुमड़ने लगा था, उन दिनों मेरा मन भी मुनिजी के संसार-त्याग का रहस्य जानने को अतिशय उत्सुक हो उठा। युवा-वय में उन्होंने

विरक्ति धारण कर ली थी""क्यों ? क्या परिस्थितियाँ रहीं ? कौन सी प्रेरणा रही ? मेरे अन्तर्मानस में भी जानने की जिज्ञासा रहने लगी। एक दिन हम दोनों महाराजश्री के चरणों में नमनपूर्वक बैठे रहे—उपदेशामृत का पान कर जब सभी विसर्जित हो गये—हम तब भी करबद्ध रूप में बैठे रहे तो मुनिजी ने हमारा प्रयोजन पहचानने का प्रयत्न किया। हमारी मन की स्थिति को वे स्वतः ही भाँप गये। हमें कुछ भी नहीं पूछना पड़ा। श्राविके ! तुम यह जानना चाहती हो न, कि मेरे इस वर्तमान के लिए उत्तरदायी मेरा कौन सा अतीत रहा है ? मैं विरक्त क्यों हो गया—इस आयु में ? महाराज की इस अद्भुत, चमत्कारपूर्ण क्षमता से हम अभिभूत हो गये। उन्होंने हमें तरंग और पद्मदेव नामों से सम्बोधित भी किया। वे तो जैसे बिन बताये ही सब कुछ ज्ञात कर लेने की असामान्य शक्ति रखते थे। हम दोनों अत्यन्त प्रभावित हुए। अभिवर्धित श्रद्धा के साथ हमने मुखमुद्रा से ही यह प्रकट किया कि महाराजश्री का कथन सत्य है। हमारे मन में यही तीव्र जिज्ञासा है। यह सकेत पाकर मुनिजी ने हाथ उठाकर हमें आश्वस्त किया और कहा कि वे हमें एक कथा सुनाएँगे। उस कथा से हमारी जिज्ञासाएँ तुष्ट हो जायेंगी। यदि फिर भी कोई बात शेष रह जायगी तो । उपयुक्त है महाराजश्री ! हम कथा-श्रवण को तत्पर हैं, आभारी कीजिये। हमारे इस कथन पर मुनिजी ने कथारम्भ करते हुए कहा—

बात काशी नगरी की है। काशी तो अनेक विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध रही है। कलाओं और विद्याओं का यह नगर भक्तों सन्तों के लिए भी चर्चित है तो विद्वत्ता और वैभव के लिए भी। काशी में मल्ल विद्या, प्राणायाम और योग की प्रवृत्तियाँ भी हैं तो यहाँ अनेक धनाढ्य परिवारों का निवास और व्यवसाय भी है। ऐसे ही एक वैभवशाली व्यवसायी जिनदत्त इस नगर में रहते थे। उनकी धर्मशीला पत्नी का नाम था—श्रीमती। उनका युवा पुत्र रुद्रयश कुछ अन्य ही प्रकार का था। माता-पिता के आदर्शों से भिन्न वह एक अन्य ही मार्ग का पथिक हो गया था। रुद्रयश दुर्जन हो गया था, क्रूर कर्मी, हिंसक और अपराधी।

घर का वातावरण तो शील का था, धर्म और मानवीयता का था, किन्तु युवा पुत्र पर इस सौम्य वातावरण का कोई भी प्रभाव नहीं हुआ। वह तो अधिकाधिक दुष्ट होता गया। किशोरावस्था से ही छल-छद्म में उसे आनन्द आने लगा था, परपीड़न उसकी अभिरुचि का कार्य हो गया

था। कोई पूर्व संस्कारों का प्रभाव ही लगता था। माता-पिता इन परिस्थितियों से पीड़ित रहते। रुद्रयश को तो कंकर मारकर वृक्ष की शाखाओं पर बैठे पक्षियों को घायल कर देने में आनन्द आता। पंछी वृक्ष से गिरकर धरती पर तड़पते, उसे प्रसन्नता होती। कुत्ते, बिल्ली की एक टांग में रस्सी बाँध कर पेड़ पर लटका देता, उलटे लटकते पशु असहाय अवस्था में कष्टित होते—उसे मजा आता। किशोरावस्था से ही उसने अपनी एक बाल-मंडली गठित कर ली थी। नगर में चारों ओर धमाचौकड़ी मचाना ही इनका काम था। आरम्भ में उसने बड़े कौशल से अपनी इन दुष्ट प्रवृत्तियों को अपने पिता की दृष्टि से बचा रखा था। ये दुष्ट बालक गली-मोहल्ले में लोगों को भाँति-भाँति के कष्ट देते रहते—उनके अपमानजनक अपशब्दों से भी ये तो आनन्दित ही होते रहते। इनके कहकहों से बेचारा प्रताड़ित होने वाला ही हक्का-बक्का रह जाता। यह मंडली रुद्रयश को अपना नायक मानती और इसे 'दद्दा' नाम से सम्बोधित किया करती थी।

दद्दा के मस्तिष्क में नयी-नयी प्रकार की उद्दण्डताएं जन्म लेती रहतीं और उन प्रयोगों को करने में उसे अद्भुत आनन्द आता, इनकी सफलता पर तो उसके आनन्द की चरम सीमा ही आ जाती। सफलता का मापदण्ड बस यही रहता कि अन्य प्राणी अधिकाधिक पीड़ित हो सकें, उन्हें अधिकाधिक हानि हो।

श्रेष्ठी जिनदत्त और उनकी पत्नी श्रीमती तो रुद्रयश के कुकर्मों से अनभिज्ञ थे। काफी समय तक इस तथ्य को न जानने के कारण हुलसे-हुलसे रहे—कि उनके यहाँ भी एक कुल-दीप है। इनके दाम्पत्य जीवन का पूर्वार्द्ध तो बड़ी निराशा में बीता। निस्संतानता इसका मूल कारण थी। यों यह श्रेष्ठी दम्पति भी धर्मानुरागी थे। अनेक व्रत-उपवास भी किये—संतति प्राप्ति न होनी थी, न ही हुई। इसे कर्मफल ही कहा जाना चाहिए। कुफलदायी कर्मों का क्षय होने पर शुभ समय आया और प्रौढ़ावस्था में इस घर में एक पुत्र का आगमन हुआ था। स्वाभाविक ही था कि ऐसी स्थिति में बालक असीम वात्सल्य का पात्र हो। माता उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती, पिता ने उसके पालन-पोषण में कोई कमी नहीं आने दी। बालक की किलकारियों से घर गूंजने लगा। चिरप्रतीक्षित सुख-स्वप्न साकार हुआ था। माता-पिता की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। रुचिपूर्वक उसे भाँति-भाँति के वस्त्रालंकारों से सुसज्जित रखा जाता था। बालक रुद्रयश भी बड़ा सलौना, प्रियकर था।

पर्याप्त आयु प्राप्त हो जाने पर उसका शिक्षण-दीक्षण आरम्भ हुआ। वह रथ में बठकर विद्यालय जाता। अपने सहपाठियों में उसका दब-दबा जमने लगा। सभी उसको बड़ा मानते, ऊँचा मानते। उससे मित्रता रखने को सभी बालक लालायित रहा करते थे। गुरुजी का स्नेह भी रुद्रयश के प्रति कुछ अधिक ही रहा करता। अनुशासन की डोरी उसके लिए कुछ ढीली रहा करती थी। अध्ययन समय में ही वह अपने कुछ उद्दण्ड साथियों के साथ चुपके से विद्यालय से खिसक जाता और निरुद्देश्य ही ये लोग नदी तट पर, अमराइयों में, खेतों में विचरण करते रहते। छुट्टी के समय वे लौट आते। फिर तो ये दिन-दिन भर के लिए पाठशाला से लुप्त रहने लगे। अपनी शरारत को छिपाने के लिए नये-नये ढंग, बहाने खोजने में रुद्रयश निपुण होता चला गया। अपने संगी साथियों के साथ अमराइयों से आम चुराना, नदी से मछलियाँ पकड़कर किनारे की तपती बालू में छोड़ देना—ऐसे-ऐसे कार्यों में ये रुचि लेने लगे। एक और प्रवृत्ति रुद्रयश में उत्पन्न हो गयी थी। अपने सहपाठियों की वस्तुओं को वह चुराने लग गया। उसे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं था। वह तो वस्तुओं को चुराकर किसी अन्य को दे देता, या नष्ट ही कर देता था। उसे तो अपनी चतुराई बढ़ाने में आनन्द आता था। चौर्य कला में वह दिनोंदिन दक्ष होता जा रहा था। पहले तो वह साथियों की पुस्तकें आदि चुराया करता था। फिर बड़ी चोरियाँ करने लगा। उसे इस बात में आनन्द आता कि मैंने सबकी दृष्टि बचाकर अमुक वस्तु अपने हस्तगत कर ली—किसी को पता नहीं चलने दिया, स्वयं उस छात्र को भी नहीं, जिसकी वह वस्तु थी। वस्तु के उपयोग में उसे आनन्द नहीं आता—उस छात्र के दुःखी होने में उसे रस आता था। अपनी किसी प्रतिक्रिया से वह सन्देह का पात्र भी नहीं बनता था। किसी ने इन प्रसंगों में लिप्त होने के विषय में रुद्रयश की बात नहीं सोची। उसका साहस बढ़ता गया और एक दिन तो उसने एक मित्र के सहयोग से गुरुजी की ही जेब पर हाथ साफ कर दिया। जब हंगामा मचा तो ये लोग उसका आनन्द उठाने में लगे रहे। कितना मजा आया था इन्हें जब एक निरीह बालक पर सन्देह कर उसकी निर्मम पिटाई की गयी थी। उसका दिल उस दिन बहुत खुल गया जब उसने अपने ही घर में दिन-दहाड़े तिजोरी का ताला तोड़कर काफी सारा धन चुरा लिया। पिता जी को भी इसका पता दूसरे दिन चला—काम कुछ ऐसी सफाई के साथ

किया गया था। चोरी के इस धन को उसने अपनी मंडली में बाँट दिया और सभी को अपना बना लिया। अब अन्य घरों में अपना कौशल दिखाने की योजना बनने लगी।

एक दिन नगर के एक सभ्रांत सज्जन जिनदत्त सेठ के पास आये और इधर-उधर ताकते हुए बड़े धीमे स्वर में कहने लगे—सेठजी ! मैं एक विशेष बात के लिए आपके पास आया हूं। डरता हूँ कि कहीं आप रुष्ट न हो जायं, पर बात मेरे और आपके दोनों ही के भले की है। मेरा बेटा और रुद्रयश दोनों मित्र हैं, संग-संग पढ़ते हैं। पर पढ़ते क्या हैं....उल्टे-सीधे काम करते रहते हैं। चोरी-चकारी जैसे अपराध अब उनके लिए साधारण हो गये हैं। पिछले एक माह से ये लोग पाठशाला भी नहीं गये हैं। मैंने अपने बेटे को घर बिठा लिया है। आप भी अपने पुत्र को सँभालिये। किस पर किसका बुरा प्रभाव हुआ अब यह खोजना व्यर्थ है। अपना-अपना सुधार ही कर लिया जाना चाहिये। सेठजी की आँखें खुल गयीं। विद्यालय जाने पर पता लगा कि वास्तव में रुद्रयश भी एक माह से विद्यालय नहीं जा रहा है। उसने पिता की ओर से प्रार्थना पत्र दे रखा था कि रुद्र रोगी है। जिनदत्त के झूठे हस्ताक्षर भी अंकित थे। अब तो उसके सभी कर्म एक-एक कर सामने आने लगे। उसकी निन्दा होने लगी। वह दुष्ट तनिक भी लज्जित नहीं हुआ। वक्ष तानकर ही चलता और कहता कि कोई हमारी क्या समानता कर सकेगा !!

अब उसमें माता-पिता का भय भी नहीं रहा। घर में हुई चोरी भी उसने स्वीकार की—निर्भीकता और दुस्साहस के साथ। अब उसे असाध्य समझ लेने में ही सार था, किन्तु पिता का हृदय ऐसा कब सोच सकता था। उसे सुधारने के प्रयत्न भी होने लगे। पिता उसके अभिनय को नहीं समझ सके। उसने सारे कुकर्मों पर वाचिक पश्चात्ताप किया—इन कामों को सर्वथा त्याग देने का संकल्प किया, अध्ययन में ही मन लगाने का वचन भी दिया। सेठ जिनदत्त का पितृ हृदय द्रवित हो उठा। रुद्रयश को उन्होंने एक अवसर और प्रदान किया। वह पुनः विद्यालय तो जाने लगा, किन्तु उसे पहले जैसा मान सम्मान मिलने की तो अब कोई बात ही नहीं रह गयी थी। सभी उससे बचते, सन्देह की दृष्टि से देखते, कोई उसका संग पसन्द नहीं करता। उपेक्षा से वह कुछ दिन प्रताड़ित रहा, किन्तु उसकी तो अपनी पृथक मंडली थी। अन्यजनों से उसका वास्ता ही नहीं था। घर में उसने

अध्ययनशील हो जाने का आडम्बर रच रखा था। रात बहुत-बहुत देरी से आकर भी जब घर में वह कहता कि अध्ययन में लगा रहा—तो पिता का सरल हृदय सहज ही इसे स्वीकार कर लेता था। इस आड़ में वह जूआ, मदिरा आदि व्यसनों को भी पालता रहा, चोरी-ठगी भी चलाता रहा। अन्ततः जब रहस्य खुला तो पिता बहुत दुःखी हुए। माता तो माथा ही पीट कर रह गयीं। यह वृद्ध दम्पति अब सोचने लगे कि कुपुत्र होने के स्थान पर तो हम निस्संतान ही भले थे। हमें यदि कर्मों के फल अभी भोगने ही थे तो फिर सन्तान—ऐसी सन्तान क्यों दी ?

श्रेष्ठी जिनदत्त के समक्ष समस्या बड़ी विषम थी। बेचारे क्या करें—उन्हें कुछ समझ नहीं आ रहा था। समाज में, सारे नगर में खूब 'ख्याति' फैल गयी थी अपने सुपुत्र की। सभी परिचित-सम्पर्कीजन बूढ़े माता पिता को 'बधाई' ही देते थे। अघा गये थे वे बेचारे अपने बेटे की 'यशगाथाएँ' सुनते-सुनते। उन्हें अपना जीवन 'धन्य' हुआ प्रतीत होने लगा था।

पिता जिनदत्त सहसा कोई परिवर्तनकारी चरण उठाना नहीं चाहते थे। इस से उन्हें अपयश और निन्दा होने का भारी भय था। उन्हें उम्मीद थी कि बेटा सुपथगामी हो जायगा। कोई ऐसी स्थिति नहीं आ गयी है कि जिसे असाध्य समझा जाय। हाँ, उनकी समझ उपयुक्त न थी। रुद्रयश अपराधों की राह पर इतना आगे बढ़ गया था कि उसका लौटना कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया था। वह अब तो क्रूर दुष्कर्मियों का पक्का नायक हो गया था। अपराध—उसके लिए भले ही मात्र रुचि का विषय था, किन्तु उसके टोले के अपराधियों की तो आवश्यकताओं की पूर्ति ही अपने इन दुष्कर्मों से होती थी। धीरे-धीरे स्वयं रुद्रयश के मन में भी धन के प्रति ललक जागने लगी। पासे फेंकने में उसकी कला की समकक्षता करने वाला वाराणसी भर में तो कोई अन्य था ही नहीं। एक रात में सहस्रों मुद्राओं का स्वामी हो जाना उसके लिए बाँये हाथ का खेल होता था। हाथ की सफाई का ऐसा कौशल उसने अर्जित कर लिया था कि क्षण मात्र में मूल्यवान वस्तुएँ इधर से उधर कर देता। हीरे-जवाहरात देखते ही देखते जौहरियों के यहाँ से अदृश्य हो जाते थे। अब उसके टोले का भी अपना कोष हो गया था। अस्त्र-शस्त्रों का अम्बार लगने लगा था। एक भूतिया हवेली में उसने अपना अड्डा भी जमा लिया। अब सेठ जिनदत्त की आशाएँ भला क्या पूरी हो पातीं ! पर वे तो सारी स्थिति से अवगत नहीं

थे न ! उनका ऐसा सोचना भी स्वाभाविक ही था। सबसे अधिक दयनीय अवस्था तो रुद्रयश की माता की थी। वे भीतर ही भीतर घुटती रहतीं। उन्हें समझ नहीं आता था कि उनके किन कर्मों का यह फल उसे मिल रहा है।

× × ×

राजगृह के उपाश्रय में नगर श्रेष्ठिनी सोमावती को साध्वी तरंगवती जी वह कथा सुना रही थीं जो उन्होंने युवा मुनिजी से कौशाम्बी के अपने उद्यान में सुनी थी और जिसमें वाराणसी के श्रेष्ठी जिनदत्त के पुत्र रुद्रयश का प्रसंग चल रहा था।

उस रात रुद्रयश की प्रतीक्षा करते हुए उसके माता-पिता अंगीठी के पास बैठे थे। काफी रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी पुत्र के न लौटने पर श्रेष्ठी दम्पति के मन में चिन्ता बढ़ती जा रहीं थी। शीत के बढ़ जाने से भी अधिक चिन्तित थे। माता को अपने पुत्र के भूखे होने की आशंका के कारण बड़ी व्यथा थी। पिता का शंकालु मन भाँति-भाँति की अशुभ आशंकाओं की वीथियों में भटकने लगा। साँय-साँय करती सन्नाटे भरी रात्रि में पत्ता भी खड़कता तो उन्हें पुत्रागमन का अनुमान होता—मन उत्साह से भर उठता, किन्तु अन्ततः निराशा ही हाथ लगती। आँखों ही आँखों में सारी रात बीत गयी। द्ररुयश को न लौटना था, न ही लौटा। उजाला होने लगा, पंछी चहचहाने लगे। पति-पत्नी का मन गहन उदासी से भर उठा।

सहसा प्रातः वेला में राजकर्मचारी के आगमन की सूचना सेठ जिनदत्त को मिली तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होने लगा। वे किसी कारण का अनुमान नहीं लगा सके। पुत्र का घर न पहुंचना और राजदरबार से बुलावा—इन दो बातों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर पाये। समस्या-ग्रस्त श्रेष्ठी दम्पति के भाल पर वक्र रेखाएँ उभर आयीं।

उचित वेश-भूषा धारण कर श्रेष्ठी जिनदत्त राजदरबार में पहुँचे। उनके अभिवादन का उत्तर देते हुए महाराज ने सव्यंग पूछा—श्रेष्ठीजो, आपका राजकुमार कहाँ हैं? रात भर उसका कोई अता-पता भी रहा या नहीं ?

श्रेष्ठी बेचारे क्या उत्तर देते ! वे स्वयं नहीं जानते थे कि रुद्रयश

कहाँ रहा। मिथ्या-भाषण को उन्होंने उपयुक्त न मानकर जो सत्य था, वही प्रस्तुत कर दिया कि वे रात्रि भर चिन्तित रहे हैं, प्रतीक्षा करते रहे हैं। पता नहीं, वह कहाँ रह गया! महाराज ने तब अपने व्यंग की धार कुछ और पैनी करते हुए कहा—"श्रीमानजी! आपका लाड़ला तो हमारे अतिथि गृह में रहा। वह राजकीय आतिथ्य प्राप्त करता रहा है। आपके लिए यह गौरव का प्रसंग है ना!" बेचारे वृद्ध जिनदत्त क्या उत्तर देते। ताना समझकर उनकी गर्दन झुक गयी।

महाराज के संकेत पर बन्दी रुद्रयश को दरबार में प्रस्तुत किया गया। शृंखलाओं से जकड़ा यह युवा बड़ी धृष्टता के साथ अपनी गर्दन ताने खड़ा था। उसके हाथ पीछे करके हथकड़ियों में जकड़ दिये गये थे। पैरों में बेड़ियाँ थीं। उसके तनिक से हिलने-डुलने पर शृंखलाएँ खनखना उठती थीं। उसके आजू-बाजू दो प्रहरी नग्न खड्ग उठाए सतर्क मुद्रा में खड़े थे। महाराज के निर्देश पर मन्त्रीवर ने उसकी अपराध कथा प्रस्तुत की—

वाराणसी के धर्मवीर श्रेष्ठी जिनदत्त के पुत्र रुद्रयश पर हत्या और डकैती के अभियोग हैं श्रीमन! सेठ का मस्तक तनिक और भी झुक गया। मन्त्रीजी ने कथन निरन्तरित रखते हुए कहा--कल संध्या को राजकोष का धन दृढ़ सुरक्षा व्यवस्था के साथ जब अन्य भाग से राजधानी लाया जा रहा था, इसकी सूचना दस्यु रुद्रयश को कहीं से मिल गयी। वह नगर से एक अश्व पर आरूढ़ होकर उस मार्ग पर बढ़ गया जिससे होकर धन लाया जा रहा था। कोई पाँच कोस चलने पर उसे वनखंड में सामने से आता कोष दिखायी दे गया। वह घने वृक्षों के पीछे दुबक गया। आठ प्रहरियों के साथ जब कोष-रथ समीप आया तो यह दुष्ट सहसा प्रकट हुआ। अपने खड्ग के अचूक वारों से उसने सभी अश्वारोही प्रहरियों को मौत के घाट उतार दिया। रथवाहक को धकेल कर भूमि पर गिरा दिया और स्वयं रथ लेकर वन में चम्पत हो गया। अकेले एक रुद्रयश ने इतना विकराल हत्या-काण्ड किया। इन शब्दों से उस दुष्ट का मस्तक कुछ और भी ऊँचा हो गया। आगे मंत्रीवर तो मौन हो गये पर हुआ यह था कि संदिग्ध भूतिया हवेली पर छापा मारकर दस्यु रुद्रयश को लूटे गये धन के सहित पकड़ लिया गया।

महाराजा ने इसे भयंकर, अमानवीय व्यवहार बताया। उनके मत

में यह राज्य पर आक्रमण था। राज्य कर्मचारियों की हत्या की गयी—साधारण हत्या से अधिक गम्भीर यह अपराध था। लूटा गया धन भी राज-कोष का था। महाराजा ने कुछ क्षणों का विराम लिया, सभा का सन्नाटा साकार होकर गम्भीरता को और गहरा गया। श्रेष्ठी को सम्बोधित करते हुए महाराज ने पूछा—रुद्रयश का यह अपराध तो अब तक का अन्तिम अपराध है, प्रथम नहीं। यह तो आपराधिक प्रवृत्ति का ही एक क्रूरकर्मी है। अपराधों को देखते हुए भी यह दुष्कर्म कठोर दण्ड के योग्य है, किन्तु हम अपराधी के सुधार की बात को महत्वपूर्ण मानते हैं। प्राणदण्ड से दण्ड का ध्येय ही पराजित हो जाता है। हमें अपराधी को नहीं, उसकी अपराधवृत्ति को नष्ट करना है। इसके अतिरिक्त अपराधी की पारिवारिक पृष्ठभूमि को देखने पर भी कुछ करुणा का प्रसंग बनता है। इसके अभिभावक धार्मिक प्रवृत्ति के सर्वथा सदाशय, सज्जन हैं। हम इसमें श्रेष्ठी जिनदत्त का परामर्श आवश्यक मानते हैं कि रुद्रयश को क्या दण्ड दिया जाय। उनकी बात हमारे लिए मान्य होगी। श्रेष्ठी जी यदि इस बात का वचन दें कि वे अपने पुत्र का आचरण सुधार देंगे, उसे अपराध मार्ग से च्युत कर देंगे तो हम इस बार रुद्रयश को क्षमा भी कर सकते हैं। श्रेष्ठी जिनदत्त पर बड़ी भारी न्यायिक जिम्मेदारी आ गयी थी। उन्होंने औचित्य का पक्ष रखने की ठान ली थी। पुत्र-मोह में पड़कर वे किसी अनीति के भागी नहीं बनना चाहते थे। महाराज की बात को निभाना भी उनके बस में न था—वे रुद्रयश के भावी सदाचार के लिए किसी को भी आश्वस्त करने की स्थिति में नहीं थे।

श्रेष्ठी जिनदत्त ने नमनपूर्वक ही कहा कि महाराजश्री की उदारता के लिए वे उनके ऋणी हैं, किन्तु वे न तो अपने पुत्र के सुधार की क्षमता रखते हैं और न ही इस वचन के आधार पर उसे क्षमा किया जाना चाहिए। उसे उचित ही नहीं, कठोरतम दण्ड दिया जाहिए— यही उसके लिए अपेक्षित है। महाराजा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि श्रेष्ठी जी से उन्हें यही आशा थी। उन्होंने नीति का पक्ष लेकर अपनी धार्मिक दृढ़ता को ही सिद्ध किया है। उन्होंने यह भी कहा कि जब तक ऐसी विभूतियाँ काशी में रहेंगी, यहाँ के न्याय को उचित संबल मिलता रहेगा। उसके मार्ग में आने वाले बाधक तत्व सशक्त नहीं हो सकेंगे। हमें श्रेष्ठी जिनदत्त के इस व्यवहार पर असीम प्रसन्नता है।

महाराज ने रुद्रयश के लिए दण्ड निर्धारित कर दिया। उन्होंने उसे

काशी राज्य से निष्कासित कर दिया और आदेश दिया कि तीन घड़ियों के भीतर ही इसे काशी की सीमा से बाहर निकाल दिया जाय। अशिष्टता-पूर्वक रुद्रयश अट्टहास करने लगा।

काशी राज्य की सीमा त्यागकर वह युवा अपराधी वन-वन भटकता रहा। अहर्निश चलता ही चलता रहा। निरुद्देश्य यात्रा थी। उसे किसी विशेष स्थल पर न तो पहुँचना था और न ही उसे इस बात का कभी आभास रहता कि वह जहाँ है – वह कौन सा स्थान है, किस राज्य में है? वन्य फल-फूलों का आहार और नदियों-झरनों का शीतल जल मिल ही जाता था। आखेट की प्रवृत्ति भी इस नये परिवेश में विकसित होने लगी थी। वन में एक मृग का पीछा करते-करते एक दिन वह बहुत भागता रहा। वह हाँफता-हाँफता कहीं का कहीं निकल गया। मृग तो न जाने कहाँ लुप्त हो गया और उसके समक्ष लहराता जलाशय आ गया। उसने कठिनाई से अपनी गति को थामा, वह रुका, जलाशय के तट पर बैठ गया। इस अपरिचित, अचिन्हित स्थल पर भी वह निर्भीक था, उसका मनोबल उच्चतर अवस्था में था। उसे सहसा दो अश्वारोही संभ्रान्तजन दिखायी दिये। झील के उस पार वे यों सरपट भागे जा रहे थे मानो कोई उनका पीछा कर रहे हों। देखते ही देखते अश्व उसकी दृष्टि से ओझल हो गये। तभी कुछ क्षणों में समीपतर होता जा रहा कोलाहल उसे सुनायी दिया। वह तुरन्त उठा, समीप के एक ऊँचे सघन वृक्ष पर चढ़ा और लुक-छिप कर बैठ गया। ऊपर से उसने देखा—अश्वों पर सवार कोई दस्युदल बढ़ा आ रहा था। दूर से ही एक खोजी सवार आँखों पर दूरबीन चढ़ाये उस पेड़ को देर तक देखता हुआ पाया गया तो रुद्रयश भावी अनिष्ट की आशंका से कुछ विचलित हो उठा। शीघ्र ही उसने लपक कर अपने नायक के पास अपना घोड़ा कर लिया और उसे कुछ सूचना दे रहा हो—रुद्रयश को ऐसा लगा।

"यही यही वृक्ष है नायक! और वह छिपा बैठा है उस शाखा पर""जिसके विषय में मैं कह रहा था। हमें इसे पकड़कर मार डालना चाहिये नायक! यह अवश्य ही राज्य का गुप्तचर है। इसे जीवित छोड़ना हमारे दल के हित में नहीं होगा।" जवान ने कहा। नायक ने रुद्रयश को ललकारा, नीचे उतरने को कहा। वह नीचे उतरने भी लगा। दल आश्वस्त हो गया। वह कुछ ऊँचाई पर से ही नीचे कूदा किन्तु भूमि पर आने के

स्थान पर वह एक अश्वारोही पर कूदा—सवार दस्यु को भूमि पर गिराकर वह घोड़ा ले भागा, सवार का खड्ग भी अब उसके हाथ में था। जाते-जाते उसने चिल्लाकर नायक की सम्बोधित करते हुए कहा—"किसी को उसका पीछा करने की आवश्यकता नहीं। वह अभी तुरन्त ही लौटकर आता है, वहीं उसकी प्रतीक्षा की जाय।" नायक के आदेश से सभी वहीं रुके रहे। इन लोगों के आश्चर्य का पार नहीं रहा जब वास्तव में उन्होंने कुछ ही समय पश्चात उसे लौटते हुए देखा। कुछ समीप आने पर उन्होंने देखा कि उसके हाथ का खड्ग रक्त-रंजित था।

कुछ ही पलों में रुद्रयश इस दल के समीप आ गया। तलवार उठाकर उसने नायक का प्रणाम किया। नायक ने भी उत्तर में अपनी तलवार को ऊँचा कर दिया। त्वरा के साथ वह अश्व से उतरा और काठी से बंधी गठरी खोलकर उसने नायक को दी। कहा कि उनका दल जिन दो धनाढ्यों का पीछा कर रहा था उन्हीं पर दृष्टि रखने को वह वृक्ष पर चढ़ा था। वह दोनों को मौत के घाट उतारकर उनकी सम्पत्ति लूट लाया है। उसने कहा—वह कोई गुप्तचर नहीं है। काशी का निष्कासित, असहाय दस्यु है।

नायक यह अमूल्य हीरे-जवाहारात की भेंट पाकर खुश हुआ। उसने रुद्रयश की पीठ ठोंकते हुए उसके शौर्य और कौशल की प्रशंसा की। वह न होता तो आज इन्हें असफल ही रहना पड़ता। हाथ आया शिकार छिटक ही भागा था। इस बहादुर ने इनकी लाज रख ली। नायक ने सोचा कि वह तो मंजा हुआ खिलाड़ी लगता है। क्या वह उसके दस्यु दल में काम करने को राजी हो जायगा? नायक ने कहा कि उसे दल में भर्ती करने के लिए वह सरदार से अनुरोध करेगा—उसका अनुरोध मान भी लिया जायगा। उसे इसका विश्वास है।

यही तो रुद्रयश की कामना थी। वह दस्यु दल का ही आश्रय तो चाहता था। उसने तुरन्त अपनी सहमति दे दी। नायक ने उससे हाथ मिलाया और अश्व की ओर संकेत किया। रुद्रयश अश्वारूढ़ हो गया और दल विंध्याचल पर्वत माला की कन्दरा की ओर बढ़ने लगा—जहाँ उसका अड्डा था।

कन्दरा पर पहुँचकर उसने पाया कि सिंह गुफा का यह दस्यु दल तो बहुत बड़ा था। इसका सरदार भी बड़ा प्रचण्ड, विकराल और भयावह

था। सरदार ने रुद्रयश को उपयुक्त पाकर अपने दल में सम्मिलित कर लिया। रुद्रयश ने बड़ी ही स्वामिभक्ति के साथ कार्य किया। वह तन-मन से अपने दल के लिए समर्पित था।

मुनिजी ने कौशाम्बी में तरंग को यह कथा कही थी। रुद्रयश की इस कथा को आगे बढ़ाते हुए साध्वीजी ने सेठानी सोमावती से कहा कि अपने बल, विक्रम, निष्ठा और ईमानदारी के सहारे वह सिंह गुफा के इस दस्यु दल का एक प्रमुख व्यक्ति हो गया था। इसी ने एक प्रातः अपने दल के साथ यमुना तट पर एक नवदम्पति को लूट लिया था। तरंग और पद्मदेव को सम्बोधित करते हुए मुनिजी ने कहा—सच मानों तुम्हारे ही प्रताप से मैं आज इस अवस्था को प्राप्त हूँ।

"हम तो हक्के-बक्के रह गये"—साध्वीजी ने कहा। कुछ समझ नहीं पाये हम लोग कि मुनि महाराज का आशय क्या है? तभी स्वयं उन्होंने बताया कि मैं ही वास्तव में रुद्रयश था। मैंने ही छोटे सरदार के रूप में यमुना तट पर तुम्हें लूटा था और बन्दी बनाकर मैं ही तुम्हें कन्दरा के अड्डे पर लाया था। मैंने ही तुम्हें कन्दरा में अलग-अलग स्थानों पर बाँध दिया था। मैं ही वह छोटा सरदार हूँ जिसने तुम्हें कालीमाई की बलि बनने से बचाया। तुम को मैंने उसी अर्द्ध रात्रि को बन्धनमुक्त किया था। तुमने बाद में भी विचार किया होगा, कदाचित् तुम समझ भी नहीं पाये होगे कि मेरे मन में सहसा यह करुणा कहाँ से आ गयी! इसके पीछे भी एक रहस्य है! इतना कहकर साध्वीजी कुछ क्षण मौन रह गयीं, मानों वे अपने मानस को संतुलित और व्यवस्थित करने में लग गयी हों। अपने मुख पर हाथ फेरती हुई वे फिर कहने लगीं कि छोटा सरदार उस रात्रि में कहीं चला गया था—हमें ऐसा लगा, किन्तु वास्तव में वह गया कहीं नहीं था। वह मुझसे कुछ दूर अन्धेरे में ही छिपकर बैठा था। रात्रि में मेरे समीप बँधी वृद्धा बन्दिनी को जब अपनी कथा सुना रही थी, छोटा सरदार भी रसज्ञा की भाँति ध्यान लगाकर सुनता चला गया। मैंने अपनी पूर्व-भव की कथा भी कही। चक्रवाक चक्रवाकी के रूप में मैं और मेरे पति पद्म-देव गंगा तट पर रहा करते, प्रेममय सुखी जीवन था हमारा। आखेटक का प्रसंग आया तो छोटा सरदार और अधिक सतर्क हो गया। उसने सब कुछ सुना कि कैसे वनवासी आखेटक के बाण से चक्रवाक मारा गया—दुखी होकर कैसे चक्रवाकी ने भी अपने प्राण त्याग दिये। कैसे आखेटक के मन

में घोर प्रायश्चित्त जागा और उसने भी स्वयं चिता जलाकर आत्मदाह कर लिया। यह सब सुनकर आखेटक को भी जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे स्पष्ट विदित हो गया कि पूर्वभव में वही वनवासी आखेटक गंडक था। उसी का परिणय पज्जा के साथ हुआ था और वह उसके हार के लिए गजदन्त लाने को गंगा तट पर गया था। उसी के बाण से गज के स्थान पर चक्रवाक का प्राणान्त हो गया था।

उस रात्रि में यह जातिस्मरणज्ञान हो जाने पर छोटा सरदार बड़ा दुःखी हुआ। पूर्वभव के अपने कृत्य पर उसे इस भव में भी घोर पश्चात्ताप होने लगा था। उसने निश्चय कर लिया था कि चक्रवाक-चक्रवाकी को वियोगाग्नि में झोंकने का पाप वह पूर्वभव में कर चुका है अब इस भव में वह उन्हें दुःखी और विलग नहीं करेगा। इस शुभ निश्चय के साथ ही उसने हमें अर्द्धरात्रि में मुक्त ही नहीं कर दिया, हमें सुरक्षित रूप में इस दस्यु दल के क्षेत्र से बाहर तक पहुँचा दिया। हमें खायग ग्राम के समीप छोड़कर वह चला गया था। उसने अपना परिचय भी नहीं दिया।

यह छोटा सरदार लौटकर न तो अपने दल में जा सकता था, न ही वह लौटा। वह तो यों ही वनों में भटकता रहा। कभी कोई नगर-ग्राम आ जाता तो फिर से वन आ जाते। वह इसी प्रकार आगे से आगे बढ़ता रहा। एक दिन वह एक नगर में पहुँचा जिसका नाम पूर्वताल था। उसे ध्यान आने लगा कि पूर्वभव में जब वह आखेटक था उसने चक्रवाक-चक्रवाकी का बिछोह किया। इस पाप कर्म के बाद उसने आत्मग्लानि का अनुभव किया, प्रायश्चित्त के मारे उसने आत्मदाह तक कर लिया। इस शुभ संकल्प के परिणाम-स्वरूप उसे वणिक-वंश में जन्म मिला, किन्तु कर्मफल ही था यह कि वह क्रूरकर्मी दस्यु बना, किन्तु अब पुनः उसके मन में उथल-पुथल मचने लगी थी।

जब रुद्रयश पूर्वताल पहुँचा तो उसने वहाँ इस नगर की यशोगाथा सुनी। तीर्थंकर परम्परा के आदिनाथ—सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवजी को इसी नगर में कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। इस प्रेरक प्रसंग ने रुद्रयश को सन्मार्ग की ओर अग्रसर होने को उत्साहित किया। रुद्रयश के मन में उत्थान की कामना अंगड़ाई लेने लगी, मुनि महाराज ने कहा मेरे पुण्यकर्मों का पुनः उदय मुझे समीप लगने लगा।

कौशाम्बी के उद्यान में मुनिश्री तरंग और पद्मदेव को आत्मकथा ही सुना रहे थे। उन्होंने कहा कि उन दिनों पूर्वताल नगर में एक अत्यन्त प्रभावशाली सन्त विराजमान थे। वहाँ के एक सुन्दर उपवन में महाराज श्री के व्याख्यान हुआ करते थे। मैं भी दर्शनार्थ पहुँचा। दर्शन करके मेरे मन में महाराजश्री के प्रति प्रचुर श्रद्धा उमड़ी। मैंने संक्षेप में अपने दुष्कर्मों की सारी कथा उनके समक्ष निष्कपट भाव से वर्णित कर दी और अनुनय-विनय की कि मेरा अनुताप शान्त हो—मेरा पुनः आत्मिक उत्थान हो—ऐसा कोई मार्ग बताइये। कृपालु मुनिश्री का हृदय द्रवित हो गया। अत्यन्त उदारता के साथ उन्होंने मुझे धर्माश्रय प्रदान किया—मुझे आश्वस्त किया। मुझे उन्होंने विश्वास दिलाया कि आत्मिक स्वरूप में सभी मनुष्य समान होते हैं। हाँ, किसी पर कर्मों का आच्छादान घना होता है तो किसी पर विरल। उसके अनुसार आत्मिक उत्थान किसी के लिए एक लम्बी प्रक्रिया होती है, तो किसी अन्य के लिए यह अपेक्षाकृत सुगम होती है। आत्मिक उत्थान करना सभी के लिए सम्भव होता है, असम्भव किसी के लिए नहीं। तुम भी इस उत्थान के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकते हो··· इसमें कोई संदेह नहीं। प्रयत्न तो प्रत्येक सफलता के लिए कुँजी का काम करते ही हैं। अपने प्रयत्नों के मार्ग में अपने अन्धकारपूर्ण अतीत को आड़े नहीं आने देना चाहिए। जो बीत गई, सो बात गयी। उठो, आगे बढ़ो, पीछे झाँकते रहने वाला अग्रसर होने में अच्छी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। भूलो उसे—जो हो गया, ध्यान दो उस पर—जिसे लक्ष्य बनाया है, ध्यान दो उस पर जो उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। मनोयोगपूर्वक प्रयत्न करो तो सफलता असम्भव नहीं रह जाती। मुनिश्री के शब्दों में प्रेरणा थी, उनसे मुझे आत्मविश्वास मिला। मेरे दुष्कर्म कट जायेंगे, मुझे भी मुक्ति का अधिकार है। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए मैं जो भी आवश्यक होगा—करूँगा, यह संकल्प भी मैंने कर लिया। मुनिश्री का पावन और समर्थ आश्रय मिल ही गया था। मैंने स्वाध्याय आरम्भ किया। दीक्षा प्राप्त कर मैं भी मुनि बन गया। महाव्रतों की आराधना, धर्म की साधना, गुरु-सेवा और शास्त्र-पारायण करते करते एक दशक से भी अधिक समय बीत गया। साधु मर्यादा का पालन, संयम-निर्वाह मन को शान्ति प्रदान करता है। आत्मा के उत्थान की साधना में लगा हुआ है। वह समय भी आयेगा कि जब उत्थान का चरम भी प्राप्त हो जायगा।

मुस्कुराते हुए तरंग और पद्मदेव की ओर मुनिश्री ने देखा और

कहा—"एक दिन तुमने मुझसे पूछा था कि मैं कौन हूँ, कहाँ का हूँ—अपना परिचय दूँ। और खायग ग्राम के बाहर मैंने तुमसे विदा होने के पूर्व कहा था कि कभी मैं कौशाम्बी में आकर तुम्हें अपनी आत्मकथा सुनाऊँगा···मैंने अपना यह वचन भी पूर्ण कर दिया।" यह कहते हुए मुनिश्री ने आशीर्वादात्मक रूप में अपना हाथ ऊँचा किया। दोनों महाराजश्री के चरणों में नमन कर, वन्दना करते हुए उठ खड़े हुए।

मुनि रुद्रयश का पूर्वभव और इह जीवन—दोनों का परिचय मिला तो मन में क्रान्ति सी मच गयी। मुक्ति-मार्ग के पथिक बनने की अद्भुत प्रेरणा हम दोनों के मन में मचलने लगी। राजगृह में नगर श्रेष्ठिनी सोमावती को सम्बोधित करते हुए साध्वी तरंगवतीजी ने कहा—

हम दोनों ने परस्पर विचार-विमर्श नहीं किया था, किन्तु यह हमारा विचार साम्य ही था कि पृथक-पृथक रूप से भी हम एक ही निर्णय पर पहुँचे। हमने तुरन्त ही संसार-त्याग का निश्चय किया था। जब परस्पर वार्तालाप हुआ तो हमने यह पक्का कर लिया कि अब हमें लौटकर अपने घर नहीं जाना है। अविलम्ब ही हमें हमारे निश्चय को कार्यान्वित कर लेना है। हमारा निश्चय अटल था, अडिग और सुदृढ़ था। हम लौटकर मुनिश्री की सेवा में पुनः पहुँचे। उनसे हमने विनयपूर्वक निवेदन किया कि हम संयम ग्रहण करना चाहते हैं, कृपया हमें दीक्षा प्रदान कीजिये। हम दोनों कर-बद्ध स्थिति में मुनिश्री के चरणों में बैठे थे। पद्मदेव ने अनुरोध किया कि आपने संसार की इतनी सुदृढ़ पकड़ से स्वयं को मुक्त कर लिया। माया-मोह, मद, मात्सर्य अनेक रिपुओं से आपकी मित्रता थी। इन सरस लगने वाले सभी विषयों का एक झटके से आपने परित्याग कर दिया—यह असाधारण बात है। इस आत्मोत्थान की यात्रा पर आप अग्रसर हो गये हैं। हमें भी आशीर्वाद और मार्गदर्शन प्रदान करें। हमें आपकी आशिष की शक्ति चाहिये कि हम इस मोक्षमार्ग पर अजस्रता के साथ बढ़ते चले जायें। पद्मदेव का कथन समाप्त हो जाने पर मौन मुनिश्री ने प्रश्नभरी दृष्टि से मेरी ओर ताका। मैंने मस्तक झुका कर पुनः नमन किया और विनती की कि मुनिजी महाराज, हमें आपकी कृपा की आकांक्षा है। आपकी ही कृपा ने एक युग पूर्व हम दोनों को दस्यु कन्दरा में मरण-भय से मुक्त किया था। आज तो हम आपश्री से विनय यह कर रहे हैं कि कृपापूर्वक हमें जीवन-भय

से मुक्त कीजिये। मुझे आपकी कृपा का पूरा विश्वास है। हमें साधना मार्ग का पथिक बनाइये, मोक्ष-लक्ष्य की प्राप्ति की समर्थता प्रदान कीजिये।

मुनिजी ने गम्भीर वाणी में कहा कि धर्मानुरागियो! यह तुम्हारा श्रेयस्कर शुभ संकल्प है। ध्यान से सुनो, यह संकल्प मानव-जीवन में ही सम्भव है। इतनी अनेक-अनेक योनियों में यही मानवयोनि एक ऐसा भव है, एकमात्र ऐसा जन्म है, जिसमें आत्मा अपने कल्याण का उपाय कर सकती है। मनुष्य ही आत्मिक उत्थान द्वारा चरम और परमोच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है—वही मोक्षलाभ का अधिकारी बन सकता है। आत्मा का आवागमन का चक्र चलता रहता है आत्मा को बार-बार देह धारण और देह त्याग के क्रम से गुजरते रहना पड़ता है। मानव-देह प्राप्त करके ही आवागमन के चक्र को स्थगित किया जा सकता है। मुनिजी ने कहा कि हमने मानव-जीवन प्राप्त करके यदि मोक्ष-साधना का लक्ष्य अंगीकार करने का निश्चय किया है जो यह इस जीवन का सर्वोत्तम उपयोग है। यह जीवन भी क्षणभंगुर है, नश्वर है, अभी है और अभी नष्ट हो जाय—जीवन के लिए यही सत्य है। पानी के बुदबुदे जैसा, रेत की लकीर जैसा—जिसके होने और न होने के मध्य एक क्षण का भी अन्तराल रहे-रहे, नहीं रहे। इसलिए इस जीवन का सदुपयोग भी जितना जल्दी हो सके कर लिया जाना चाहिए। समय व्यर्थ जाते रहने देने में विवेकशीलता नहीं। मोक्ष का उपाय करना है, करना है, सोचते रहने से लाभ नहीं। करना है—कर लेंगे—अभी तो जीवन पड़ा है लम्बा चौड़ा—ऐसा सोचना भी ठीक नहीं—हवा का एक झोंका रेत की लकीर को किसी भी क्षण मिटा सकता है। फिर हाथ मलते रहने के अतिरिक्त करने को रह ही क्या जाता है? आत्मा पछतावे में पड़ी रहती है। यह देह कितना ही सारहीन क्यों न हो, मोक्षलाभ को साधना के लिए साधन तो यह भी बनता है न! एक अनिवार्य साधन! सो इसके रहते ही सज्ञानजन जीवन का सदुपयोग कर लेते हैं। मोक्ष-प्राप्ति की तैयारी कर लेते हैं। इधर तन गया, उधर आत्मा को मुक्ति, शान्ति, चिरशान्ति का लाभ हो जाता है। मानव-जीवन सार्थक हो जाता है। मुनिश्री ने बड़े ही स्नेह के साथ मुझसे कहा—यह ज्ञान अनेक लोगों को मृत्यु के समय होता—अपितु तब भी नहीं हो पाता। उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है। कुछ लोगों को काफी जीवन बीत जाने पर होता है; जिनके पास तब साधना का समय भी पर्याप्त नहीं बचा होता है—

उनका जीवन पछतावा बनकर रह जाता है। बहुत कम लोगों को यह विवेक अवसर रहते ही, यथासमय होता है। उनका जीवन धन्य हो उठता है। तुम लोगों की गणना ऐसे ही लोगों में होगी। हम तुम्हारे इस निश्चय को अभिनन्दनीय मानते हैं। उपयुक्त समय पर तुम लोगों ने उपयुक्त निश्चय लिया है। इसके लिए तुम साधुवाद के पात्र हो। कल्याण हो, मंगल हो !! यह कहते-कहते मुनिश्री ने नेत्र निमीलित कर आशीर्वाद के लिए हाथ उठा दिया। उनके अधरों में कुछ बुदबुदाहट होने लगी।

पद्मदेव ने रथवाहक को घर भिजवा दिया। उसी के साथ यह सन्देश भी भिजवाया कि हम अब लौटकर घर नहीं आएँगे कभी नहीं आएँगे। हमने गृह-त्याग कर दिया है—अनगार हो गये हैं हम। हम संयम स्वीकार कर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। हमारे अपराधों के लिए हमें क्षमा करना। रथवाहक ने सुना और सुनकर वह अवाक् रह गया। उसे तुरन्त यह सन्देश पहुँचाना था। वह लपककर रथ की ओर दौड़ा। हम अपने-अपने विचारों में लीन हो गये।

✻✻

१६

"हमारे संयम ग्रहण करने के संकल्प का शुभ समाचार सारी कौशाम्बी में वन की अग्नि की भाँति कुछ ही समय में फैल गया", साध्वी तरगवतीजी ने सेठानी सोमावती को सम्बोधित करते हुए कहा—"हाँ, यह अन्य हो बात थी कि कुछेक के मत में यह शुभ न रहा हो। मेरे माता-पिता, सासू माँ और श्वसुरजी, मेरे भाई-भाभियाँ सभी जैसे थे वैसे ही दौड़े चले आये। यह क्या हो गया—सहसा ही यह निश्चय इन्होंने कैसे ले लिया? इस आशय के विचार उनके मन में उठने लगे। चिन्ता और दुःख के मारे उनका बुरा हाल था।"

सोमावती स्वयं भी ऐसी मानसिक स्थिति की कल्पना कर रही थी और उस कल्पना-मात्र से ही उसको रोमांच होने लगा। वह अधिक ध्यान लगाकर आगे का वृत्तान्त सुनने को तत्पर हो उठी—साध्वीजी कह रही थीं—

मैंने सबसे पहले अपनी जननी को देखा। उसके अश्रु थमते न थे। गिरती-पड़ती, बेहाल सी, बड़ी कठिनाई से वह मेरे निकट पहुँची। पिताजी साथ-साथ आ रहे थे, माँ को वे सहारा दिये हुए थे। मुझे समीप से देखकर तो वे भूमि पर गिर ही पड़ीं। भाभियाँ पंखा झलने लगीं; जल लाने को दौड़ गयीं। भाई भी व्यग्र थे। पिताजी तो बड़े धर्मानुरागी थे। वे धर्म के मर्म को तो समझते ही थे, उसे कर्म में ढालना भी खूब जानते थे। उन्होंने अविचलित भाव से मुझे सम्बोधित करते हुए कहा कि यह मानव योनि का वरदान किसी-किसी को ही मिलता है, यह सत्य है। यह भी सत्य है कि कोई यदि इस वरदान का लाभ न उठाए तो यह जीवन ही उसके लिए मिथ्या हो जाता है। मानव-देह धारण करके ही हम आत्म-कल्याण का उपाय कर सकते हैं—यह हमें करना ही चाहिये—किन्तु इसके लिए कोई उपयुक्त आयु भी तो होती है। तुम अभी उस अवस्था में आये नहीं हो।

अपने अन्य अनेक दायित्वों का निर्वाह तुम्हारे लिए अभी शेष है। उन्हें पूर्ण करलो फिर आत्मकल्याण की साधना तो करनी ही है। तुम दोनों से तुम्हारे अपने परिवार में अनेक अपेक्षाएँ हैं, आशाएँ हैं। अपने सास, श्वसुर की सेवा करो, उनकी आशाओं को पूरा करो। बेटे, असमय में सुन्दर वस्तुएँ भी सुन्दर प्रतीत नहीं होतीं। अभी तुम्हें दीक्षा का विचार त्याग देना चाहिए। सबको दुःखी करके क्या कोई सुखी हो सकता है ?

पिताजी की बात मैं शान्ति से, गम्भीरता के साथ सुनती रही। उनकी बातों में सार भी था। बिना कोई प्रतिक्रिया दिखाये मैंने अपनी माँ की ओर झाँका। जलोपचार से अब तक वे कुछ स्वस्थ हो गयी थीं। मेरी ओर देखकर वे कहने लगीं कि बेटी, तुमने ऐसा विचार क्यों बना लिया ? अभी तो हम लोग जीवित हैं, हमारे रहते तुम लोग गृह त्याग कर दो—क्या ऐसा कभी भी सम्भव है ? क्या यह उचित है ? इस वृद्धावस्था में हमें तुम्हारे सुखी जीवन की आशा का संबल चाहिए। जो तुमने सोचा है, वह किसी के लिए भी सुखकर नहीं है। हम बूढ़े अभिभावकों को तुम यह यातना न दो, अपना विचार त्याग दो बेटी, त्याग दो। अभी तो जीवन में तुमने देखा ही क्या है ? भावावेश के वेग से वे तनिक थकित सी लगीं। कुछ क्षणों के विराम के पश्चात् कहने लगीं कि कठिन तपश्चर्या हम दोनों ने तुझे प्राप्त करने को की है, जमुना मैया की अतिशय कृपा से हमने तुझे पाया है। क्या वह सब तुझे यों खो देने के लिए था ? तुम लोगों का यह निर्णय हमारे हृदयों के टुकड़े-टुकड़े कर रहा है तरंग, तुम्हें हम ऐसा नहीं करने देंगे। इन आठ भाइयों के बीच तू एक अकेली बहन है, तेरे मन में हमारे लिए कुछ भी दया-ममता नहीं—कि हमें रोते-बिलखते छोड़कर तू यों चली जाना चाहती है ! जा सकेगी तू यों हम सबको दुःख की अग्नि में झोंककर ? कहते-कहते माँ बिलख पड़ी, फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने अविचलित होकर उनका सारा कथन सुना, उनकी दयनीय स्थिति से दृष्टि भी नहीं घुमायी। मेरे मन में एक ऐसी तटस्थता दृढ़ होती चली गयी कि इन सभी बातों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। मेरा हृदय द्रवित नहीं हुआ। ममता का कोई भाव जागृत होकर सक्रिय नहीं हो सका—मेरे मन में। अब तक तो हजारों जन एकत्र हो गये थे। मैंने देखा, मेरी इस भव की सखी—सारसिका अपने बच्चों के साथ वहाँ थी। मेरे मन में न सखी के प्रति कोई ललक उठी, न उन बच्चों के प्रति ममता। ऐसा पहली-पहली बार हो रहा था। जैसे मेरा कोई लगाव ही

किसी से नहीं रह गया हो। मैं मैं बस अकेली""एकाकी यात्री "निस्संग पथिक।

इसी समय पद्मदेव की मातुश्री मेरे समीप आ गयीं। हम दोनों को वात्सल्य भाव से देखती रहीं कुछ पल और फिर कहने लगीं—'सुना तो पैरों के नीचे से धरती खिसकने लगी। हम लोग बड़ी ही कठिनाई से यहाँ तक पहुँच सके। पैर तो मानो मन-मन भर के हो गये। पर तुम लोगों ने यह क्या सोच लिया—क्यों भला? ऐसा क्यों विचारा है? तुम्हें घर में भला क्या अभाव है कि बेघर हो जाना चाहते हो। मेरे बेटे""सचमुच मैं तुम्हें खोना नहीं चाहती "कहते-कहते सासू माँ ने पुत्र को गले लगा लिया। वात्सल्य के अतिरेक के साथ वे कहने लगीं कि तुम दोनों तो हमारे नेत्रों के तारे हो, एक से बढ़कर एक हमें तुम दोनों ही प्यारे हो। तुम ये रास्ता छोड़ दो. छोड़ दो यह विचार। तुम ही मेरे पुत्र-पुत्री हो, तुम्हीं पौत्र-पौत्री भी हो। नहीं चाहिये मुझे पौत्र—बस तुम लोग घर में बने रहो। बहू को मेरी कोई बात लग गयी है कदाचित्। मेरे मन में मेरा स्वार्थ था, पोते का मुख देखने का स्वप्न था। उस ललक में मैंने यदि कुछ बोल-कुबोल कह दिया हो—तो उसका इतना भारी दण्ड न दो। क्षमा कर दो तुम लोग मुझे एक बार। हमारी नैया तो तुम ही पार लगाओगे। हमें यों मंझधार में बेसहारे छोड़कर न जाओ। तुम से विनती है बिटिया मेरी बात मान लो "मान लो मेरी बात "।" कहते-कहते सासू माँ अचेत हो गयीं। एक कोहराम सा मच गया। अन्य जनों के लिए ये बातें हृदय हिला देने वाली थीं, हिला भी होगा, किन्तु मुझ पर इन सभी का कोई प्रभाव जैसे हुआ ही नहीं। उन बातों के सरोवर में मेरा मन कमल की भाँति अप्रभावित बना रहा। जल की एक बूँद भी उस पर टिक नहीं सकी। मैंने पाया कि मेरे पतिदेव भी अचंचल, अविचलित रहे। किसी प्रकार का कोई परिवर्तन उनमें भी दिखायी नहीं दिया।

मेरी भाभियों का तो रो-रोकर बुरा हाल था। मेरे भाइयों के दुःखों का पारावार न था। कोई कहता, बहना! अब हम किसे अपनी बहन कह कर पुकारेंगे! कोई कहता अब हमारी पहुँची सूनी रह जायगी—कौन इसमें राखी बाँधने को आएगी। न जा बहना, हमें छोड़कर न जा!!

बड़ी देर से सारसिका मेरे सामने ही कुछ दूर हटकर सिर झुकाए बैठी थी। उसके मुख पर उदासी और तन में शिथिलता थी। आँखें

असाधारण लाल थीं। उसने अब अपना मुख ऊपर को किया और कहने लगी कि उसने बचपन से मेरा साथ निभाया है, अब मैं ही क्यों संग छोड़ कर अकेली जाना चाहती हूँ। मेरे लिए उसने जो कुछ उससे हो सका किया है, उसने जी-जान से चाहा था कि मेरा प्यार सफल हो, उसके लिए हर प्रयत्न उसने किया—आज आज मैं ही उस प्यार को त्याज्य क्यों समझ रही हूँ। सारसिका ने कहा कि उस जन्म का मेरा चक्रवाक इस जन्म में मुझे पद्मदेव के रूप में मिला है। न मिला था, तब तक मैं तड़पती रही, अब उसे छोड़कर क्यों जाना चाहती हूँ। उसने यह भी स्मरण कराया कि प्रियतम से मिलन के लिए मैं तो अपने प्राण तक त्यागने को तत्पर हो गयी थी, उसे ही आज मैं त्याग देना चाहती हूँ यह निर्मोहीपन कैसे आ गया मुझ में। क्या-क्या नहीं किया उसने चक्रवाक-चक्रवाकी के परस्पर मिलन के लिए····क्या मैं उस सब को यों व्यर्थ हो जाने दूंगी··· नहीं मुझे ऐसा कदापि न करना चाहिए। मैं अपने अथवा अपने पति के वृद्ध माता-पिता की ओर, उन दोनों परिवारों की ओर न देखूँ तो न देखूँ, मुझे कम से कम स्वयं अपनी ओर, अपने प्रेम की ओर तो देखना ही चाहिए। जन्म-जन्मान्तरों की इस प्रीति-सगाई को यों तिलांजलि दे देना, क्या मुझे शोभा देगा !! मेरी सखी सारसिका ने आँचल फैलाकर भीख माँगने की मुद्रा में अनुरोध किया कि मैं यों विरक्त न हो जाऊँ, अनुराग की मूर्ति होकर विराग को न अपनाऊँ।

मैं अविचल सब सुनती रही। मेरी सखी के स्वर में रुदन और नेत्रों में जल भर आया। वह भी बेहाल होकर अचेत हो गयी। मेरे मन में अब भी कोई अन्तःसंघर्ष न पनपा, कोई द्वन्द्व नहीं। सोमावती, मन में द्वन्द्व तो तब होता है जब अनिश्चय की भावना हो। मैं यह करूँ या न करना अच्छा रहेगा। मैं जब किसी काम को छोड़ भी न सकूँ और अपनाना भी न चाहूँ तब मनोद्वन्द्व की स्थिति होती। मेरा मन तो निर्द्वन्द्व रूप से संयम को अपनाने का संकल्प कर चुका था। कोई विकल्प न था। यही मेरी अडिगता, निर्मोह, अविचलन का रहस्य था।

अब मेरी बारी थी। सबसे पहले मैंने अपना संकल्प ही प्रकट कर दिया। मैंने आदरपूर्वक अपने और पतिदेव के माता-पिता को सम्बोधित किया, उनका वन्दन, नमन किया। इसी क्रम में मैंने सारे उपस्थित समुदाय को प्रणाम करते हुए कहा कि आप सभी की व्यथा-कथा को मैंने मन

लगा कर सुना है। मुझे अब भी यही लगता है कि आपका दुःखी होना व्यर्थ है, असार है। आप का व्यवहार तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे अन्न के दाने हम फेंक दें और तुस के उड़ जाने पर हम रोने लगें। जब दाने की महत्ता समझकर आप लोग तुस को तुच्छ समझने लगेंगे तो आपको मेरे निश्चय में कोई त्रुटि नजर न आएगी। आपकी दृष्टि में परिवर्तन अनिवार्य है। स्वर्ण को मिट्टी और मिट्टी को स्वर्ण समझकर इस जगत और जागतिक विषयों को सर्वस्व मानना आप लोग जिस दिन छोड़ सकेंगे—उस दिन आपको मेरा यह मार्ग—मेरा यह विकल्प न केवल उचित लगेगा—आप सभी इसी मार्ग पर चलने को उतावले भी हो जायेंगे। बस यही एक मार्ग—मार्ग रह जायगा—अन्य रास्ते तो भ्रामक पगडंडियों के अतिरिक्त कुछ न रहेंगे।

आप भ्रम के अन्धकार से जितना शीघ्र बाहर निकल सकें उतना ही शुभ है। आपने मुझे बेटी कहा, बहू कहा, बहन कहा, ननद कहा, पत्नी आदि अन्यान्य नाते भी मेरे विषय में सोचे-समझे जाते हैं, किन्तु मैं किसी की कोई नहीं हूँ। मैं न किसी की पत्नी हूँ, न कोई मेरा पति है। मेरे कोई माता-पिता नहीं, मैं किसी की पुत्री नहीं। ऐसे ही मैं किसी को भाई नहीं मानती न ही मैं किसी की बहन हूँ। इस जगत में कोई किसी की सहेली भी नहीं, सखा भी नहीं। सभी यहाँ अपने मौलिक रूप में अकेले हैं, निस्सग हैं।

कुम्भकार मिट्टी से अनेक प्रकार के पात्र बनाता है। कलश, घट, दीवले, प्याले और न जाने क्या-क्या। इन सभी वस्तुओं की आकार-आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। रंग-रूप की यह भिन्नता ही उन्हें पृथक्-पृथक् अस्तित्व प्रदान कर देती है। हम तनिक गहराई से सोचें तो पाएँगे—इस ऊपरी भिन्नता के नीचे इन सभी वस्तुओं में एक मौलिक समानता है। ये सभी मिट्टी हैं—मिट्टी से बने हैं, मिटकर पुनः मिट्टी ही बन जायेंगे। आप हम भी सभी मूलतः आत्माएँ हैं—कोरी आत्माएँ। इन आत्माओं में किसी ने किसी नामधारी देह को ओढ़ लिया है तो किसी ने किसी अन्य को। मैं तरंग नहीं, आत्मा हूँ। मेरी तथाकथित माता भी सुनन्दा नहीं, एक आत्मा है। वह भी आत्मा, मैं भी आत्मा। जब हम सुनन्दा और तरंग ही नहीं हैं तो फिर हमारा माता-पुत्री का नाता भी कैसे अस्तित्व में आ सकता है? इसीलिए मैं कहती हूँ कि मैं एक आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। न मैं किसी की कुछ हूँ और न ही कोई मेरे लिए कुछ है।

इसी कारण नाते-रिश्तों को बाहरी आडम्बर न मानकर दुखी होना अविवेक है। इस वेदना का कारण मिथ्या मोह है। कोई स्वयं को माँ मानकर मेरे लिए कष्टित हो या कोई पिता मानकर दुःखी हो—यह मिथ्या मोह ही तो है। इस अज्ञान के अन्धकार को छोड़ना, मोह से मुक्त हो जाना परमावश्यक है। मेरा संयम ग्रहण करना नहीं, आपके आँसुओं का मूल कारण आपका यह अज्ञानता भरा मोह है। मैं इस मोह से मुक्त हो गयी। परिणामतः मुझे न आपसे बिछोह की कल्पना हो रही है और न ही उसके कारण कोई दुःख की अनुभूति हो रही है।

आपका यह मानना भी एक भारी भ्रांति है कि मैं सुखों को स्वेच्छा से त्यागकर कष्टों का वरण कर रही हूँ और ऐसा करना सर्वथा अनावश्यक है। यहाँ फिर आप सुख और दुःख के वास्तविक स्वरूप को समझने में भूल कर रहे हैं। आप जिसे सुखोपभोग कहते हैं, वह तो कर्मार्जन का स्रोत है। आत्मा पर कर्मों का आवरण पहले ही बड़ा घना है। यदि अब भी हम सांसारिक विषयों के उपभोग को ही जीवन का चरम और परम ध्येय मानते रहे तो समझिये कि हम कर्मों का आच्छादन और सघन करते जायेंगे। यह मानव-जीवन एक सुयोग है जो बड़ी कठिनाई से, न जाने कितनी योनियों में गुजरते हुए मिला है। इस मानव-भव में हम कर्मों का क्षय—साधना द्वारा कर सकते हैं। अन्य किसी योनि में यह सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्मों का आवरण विरल करते-करते उसे सर्वथा नष्ट करने के बजाय, उसकी एक के बाद एक, पर्त-पर-पर्त जमाते रहना न हितकर है और न विवेकसंगत है। कर्मों का क्षय होने पर ही हमें मोक्ष मिलेगा, चिर शान्ति मिलेगी। यह आत्मा एक भव से अन्य भव में तब तक भटकती रहेगी—जब तक कर्मों का बोझा बना रहेगा। देहधारण, मरण, फिर नवीन देहधारण यह क्रम चलता ही चला जायगा। इस क्रम को गतिहीन करना आवश्यक है, आत्मा को देह-बन्धन से सदा-सदा के लिए छुटकारा दिला देना कि फिर लौटकर जगत में, किसी योनि में न आना पड़े—यही तो मुक्ति है, यही आत्मा की अनन्त, चिर-शान्ति है। यह मोक्ष-लाभ कर्मक्षय से और कर्मक्षय संसार से निवृत्त होकर ही संभव बनाया जा सकता है। यह चिर शान्ति या मोक्ष ही अनन्त और यथार्थ सुख है—इसको आप भूल से दुःख समझ बैठे हैं। और जिसे आप सुख मान रहे हैं वह तो घोरतम दुःख का मूल है। यह ज्ञान अब मुझे मिल गया है। अब मुझे कांटों-भरे क्षेत्र में विचरण नहीं करना है। अब तो

पुष्पों से आवृत पथ पर ही मुझे गतिशील होना है। सुख का मर्म, उसका रहस्य अब मेरे लिए हस्तामलकवत हो गया है।

आप कदाचित् यह भी मानते हैं कि संयम, तप, साधना, तपश्चर्या के लिए एक आयु विशेष ही उपयुक्त होती है. वृद्धावस्था में ही यह सब होना होता है। यह भी विवेक-सम्मत बात नहीं लगी। जो शुभ है वह तो शीघ्र ही कर लिया जाना चाहिए। यह मानव जीवन अनश्वर नहीं। कर्मक्षय के द्वारा मुक्ति लाभ जब मात्र मानव जीवन में ही सम्भव है—तो इसका सदुपयोग भी इसी उपलब्धि से सम्भव हो पायगा। यदि यह उपलब्धि न हुई तो यह स्वर्णावसर व्यर्थ हो जायगा। सोचने की बात है कि मोक्षलाभ के साधन जुटाना—जीवन की सफलता का प्रतीक है और जीवन कभी भी नष्ट हो सकता है तो फिर किसी आयुविशेष के आगमन तक इसे टालना बुद्धिमानी नहीं है। वृद्धावस्था किसी को आये—न आये—कुछ निश्चय नहीं है। अतः उपलब्ध अवसर का उपयोग परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर लेना ही उपयुक्त है। प्रतीक्षा करना ठीक नहीं है। किसी को भी नहीं करनी चाहिए। जब जागें तभी सबेरा—जब ज्ञान हो जाय तभी से सँभल जाना उपयुक्त है। सज्ञान होकर भी हितकर मार्ग न चुनें, द्वन्द्व में फँसे रहें, विष को अमृत मानते रहें—यह अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारना ही है।

अतः मैंने यह सब जान समझकर ही यह निर्णय लिया है। मेरे इस भव के पतिदेव के साथ मेरा मतैक्य है। वे भी इसी पथ के पथिक बनने में श्रेय का अनुभव करते हैं। हमारी पारस्परिक सहमति और अनुमति है। आप लोग मेरे सुख-दुःख के संगी रहे। आपसे मुझे प्रेम, स्नेह, ममत्व, वात्सल्य, प्रीति, सहानुभूति, करुणा, क्षमा सभी कुछ यथासमय मिलता रहा, आभारी हूँ। मुझसे प्रतिदान में अभाव रहा होगा, व्यवहार में रोष रहा होगा, कठोरता और आघातजनक आचरण रहा होगा—उन सबके लिए मैं आप सभी के प्रति क्षमा प्रार्थी हूँ।

मेरी कामना पूर्ण हो—इस पक्ष में आशीर्वाद दें, आपकी मंगलेच्छाएँ प्रार्थित हैं। इस नवीन पंथ की यात्रारंभ के लिए आपसे अनुमति का अनुरोध है। कृपया आज्ञा दें।

सेठानी सोमावती! उपस्थित लोगों को मैंने अपने मन की बात बतायी। मेरा कथन पूर्ण होते-होते कौशाम्बीवासी अनेक नर-नारी एकत्र हो गये। अच्छा-खासा जनसमूह हो गया। मैंने जुड़े हाथ मस्तक से ऊपर

ले जाते हुए प्रणाम किया ही था कि मेरे पतिदेव उठ खड़े हुए। वे कहने लगे कि तरंग ने बहुत कुछ व्यक्त कर दिया है। उस सम्बन्ध में मैं यही कहता हूँ कि मेरे विचार और तरंग के विचारों में समानता और एकता है। मुझे तो अतिरिक्त रूप से एक रहस्य की बात आप लोगों को बतानी है। आप में से अधिकांश जन यह जानते ही हैं कि पूर्वभव में मैं चक्रवाक और तरंगवती चक्रवाकी थी। गंगातट पर हमारा प्रेममय-सुखमय जीवन बीत रहा था कि सहसा विछोह हो गया। एक क्रूर आखेटक का शिकार होकर चक्रवाक मारा गया और चक्रवाकी ने जीवित आत्मदाह कर लिया। वही आखेटक इस भव में काशी के धनाढ्य परिवार में रुद्रयश नामक वणिक पुत्र हुआ। वही दस्यु हो गया जिसने हमें न केवल लूटा, उसने हमें मौत के मुँह में भी धकेल दिया। हमारी बलि चढ़ायी जाने वाली थी कि वही हमारे लिए प्राणरक्षक बन गया। उसने हमें बंधन-मुक्त कर दस्यु क्षेत्र से बाहर तक सुरक्षित पहुँचा दिया। आपको आश्चर्य होना भी स्वाभाविक है कि उस क्रूरकर्मी की आत्मा जब जागी तो उसने उत्थान का मार्ग अपनाया, दीक्षा ग्रहण की और मुनि रुद्रयश महाराज आज इस उद्यान में विराजित हैं। उनके सदुपदेश से ही हम दोनों की सुप्त आत्मा जागृत हो गयी हैं। उनके जीवन के दृष्टान्त से प्रेरित होकर हमने दीक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा ली है। जो स्वयं को हमारे स्वजन-परिजन हितैषी मानते हैं उनसे मेरी विनय है कि वे मुनि रुद्रयश महाराज का व्यवहार देखें। वे कभी हमारे घोर शत्रु थे, वे ही आज हमारे हितकामी हैं, आत्मकल्याण का मार्ग हमें उन्हीं से मिला है। आप तो आरम्भ से ही हमारे हितैषी रहे हैं—भावी हित भी आपसे ही सिद्ध होगा—हमें ऐसा उचित ही विश्वास है। कृपा कर हमें अपनी अनुमति, अपनी आशिष दीजिये। आपका संबल पाकर ही हम इस यात्रा पर अग्रसर हो सकेंगे। यह कहते हुए पद्मदेव ने हाथ जोड़कर प्रणाम-पूर्वक अनुमति माँगी। सारा जनसमूह हमारा जय-जयकार कर उठा। यही सभी की अनुमति का प्रतीक हो गया। हमारे मन में भी एक सन्तोष व्याप्त हुआ।

❀❀

१७

मुनिश्री रुद्रयश महाराज की धर्मदेशना के लिए एक सुन्दर मंच तत्काल सजा दिया गया। विशाल पांडाल खचाखच भरा था। महाराज उदयन भी उपस्थित हुए। अन्य अनेक राज्याधिकारी, प्रतिष्ठितजन पहुँच गये थे। कौशाम्बी के हजारों हजार धर्मप्रिय नर-नारी एकत्र थे। मुनिश्री की देशना आरम्भ हुई। धर्म को जीवन की धुरी बताते हुए महाराजश्री ने जन सामान्य का, धर्म की शरण में आ जाने का आह्वान किया। इसी से व्यष्टि और समष्टि का मंगल होगा—जीवन सुख और शान्ति से परिपूर्ण होगा—यह कहते हुए उन्होंने जनता को उत्साहित किया—धर्म-प्रेरित किया। महाराजश्री का कथन था कि धर्म मनुष्य के मन को निर्मल बनाता है, सुकर्म की प्रेरणा देता है, साधना और तपश्चर्या की ओर उन्मुख करता है। इसी से अशुभ कर्मों का आवरण विरल होते-होते छिन्न-भिन्न हो जाता है और इसी का परिणाम मुक्ति लाभ के रूप में प्रकट होता है। धर्म से व्यक्ति स्वयं तो सुखी होता ही है, उसका धर्माचरण अन्य जनों के लिए सुख, सुविधा और शान्ति का आधार बनता है। सारा जगत धर्म के प्रभाव से ही आदर्श और जीने योग्य स्थल बनता है। धर्मानुयायी स्वयं तो शान्ति से जीता ही है--सभी को ऐसी ही सुविधा भी सुलभ कराता है। सब की सुख-सुविधा की चिन्ता न करना, उनके दुःख का आधार न बनना, सब की हित-कामना करना और आत्म केन्द्रित न बनना—यही धर्म का मूल मर्म है। अहिंसा, अपरिग्रह आदि की साधना सर्वजनहिताय होती है। हमारा कोई कार्य या विचार ऐसा न हो जो किसी अन्य के लिए तन-मन के कष्ट का कारण हो। मनसा-वाचा-कर्मणा हम किसी की पीड़ा के कारण न बनें। यह हमारे आचरण का मूल स्वर होना चाहिए। हिंसा न हम स्वयं करें, न किसी के हिंसक व्यवहार को प्रेरित करें, उसका अनुमोदन

नहीं करें। यही दूसरों के लिए जीने का मार्ग है। आवश्यकता-भर जितनी ही उपभोग-सामग्री अपने पास रखें। लोभ की प्रवृत्ति से संकलन करना, संग्रह करना—अन्य जनों के अधिकार का हनन करना है। हमने आवश्यकता से अधिक संग्रह किया—तो इसका अर्थ होगा कि हम कई लोगों को वंचित कर देंगे। उनकी पीड़ा का कारण बनकर हम अधर्म करेंगे। यही परिग्रह है, पाप है। अपरिग्रही बनो—दूसरों के सुख से सुखी होना सीखो। जिसने यह सीख लिया वह जीवन और जगत के व्यवहारों का ज्ञानी हो गया। जिसने इसका आचरण किया वह धार्मिक प्रवृत्ति का हो गया।

मनुष्य देह मिली है तो इस स्वर्ण अवसर का पूरा लाभ उठाने की बात करते हुए मुनिश्री ने कहा—आत्मोत्थान में ही जीवन की सिद्धि है। मनुष्य का उद्धार कोई बाहरी शक्ति, बाहरी आडम्बर नहीं कर सकता। स्वयं मनुष्य ही अपनी आत्मा का उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते हुए उसे चरम स्थिति में ला सकता है। वही अपने लिए मुक्ति सुलभ कर सकता है। तप-त्याग और धर्म-साधना में मन रमाना मानवोचित प्रवृत्तियाँ हैं। उन्होंने कहा कि जगत में रहकर धर्म-साधना का अपना मोल है। धर्माचरण की कसौटी जगत ही है। वनों में निस्संग अवस्था में रहने वाला अपने व्यवहार को सर्वजनहिताय कैसे सिद्ध कर सकता है। ससार-सागर में द्वीपवत् रहो, सबसे प्रेम करो, सब की सुख-शान्ति की चिन्ता रखो, किसी के लिए कष्ट का कारण मत बनो, आत्मोत्थान में लगे रहो—यह कहते हुए मुनि रुद्रयश महाराज ने आशीर्वादात्मक मुद्रा में हाथ उठाते हुए कहा—सभी को धर्म की शरण मिले ! सभी का धर्म-भाव प्रबल हो !! सभी सुखी हों !!!

मुनिश्री की देशना का सार प्रस्तुत करते हुए भी साध्वी तरगवती जी के मुख पर अद्‌भुत कान्ति और अपार शान्ति लहराने लगी। प्रतिक्रिया स्वरूप सेठानी सोमावती और उसकी संगिनियों पर भी अनुकूल प्रभाव दिखायी देता था। आत्मकथा का अन्तिम चरण आरम्भ करते हुए साध्वी जी ने कहा—

फिर तो हमारा—हम दोनों का दीक्षा का मंगलमय कार्यक्रम संपन्न हुआ। सब की उपस्थिति में हमने पंचमुष्टि लोच करके दीक्षा ग्रहण कर ली। अनेक लोगों ने श्रद्धा भाव भी व्यक्त किया। सभी के मन में धर्म-हिलोरें उठने लगी थीं। हमारा मार्ग स्तुत्य समझा जाने लगा हमारा आचरण प्रशंसनीय और हमारी धर्म-भावना अनुकरणीय समझी जाने

लगी। आर्या चन्दना जी का नाम तो तुमने भी सुना ही होगा। उन महासती जी की ख्यात शिष्या मृगावती जी कौशाम्बी में ही विराजित थीं। मैं उनके संघ में सम्मिलित हो गयी। उपरोह उपरान्त मुनिश्री रुद्रयश महाराज ने विहार किया। मुनि पद्मदेव ने उनका अनुसरण किया। हमारे जीवन का एक नवीन स्वर्णाध्याय आरम्भ हुआ। आत्मोत्थान के संकल्प को पूर्ण करने में हम प्रवृत्त हो गये। तुम्हें जैसी धर्म-प्रेरणा हुई सभी को वैसी ही प्राप्त हो—सभी का कल्याण हो !!

यों साध्वीजी ने आत्मकथा को सम्पूर्ण किया। साध्वी तरंगवतीजी के इस प्रेरक प्रकरण से श्रोता सेठानी सोमावती और अन्य नारियों को अद्भुत अनुभूति होने लगी। ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वी तरंगवतीजी गुरुणीजी के मार्गदर्शन में धर्म साधना में दत्तचित्त रहीं। इसी विराट विहार क्रम में राजगृह में उनका मांगलिक आगमन हुआ। छट्ठ व्रत का पारणा था और उस प्रातः साध्वीजी अपनी श्रद्धेया गुरुणीजी के अनुसरण में नगर श्रेष्ठी के यहाँ पहुँचीं और भक्तिभाव के साथ सेठानी सोमावती ने वन्दना की और शुद्ध आहार बहराया था। इसी समय जो जिज्ञासा सेठानी के मन में उठी थी—वह यह आत्मकथा सुनकर तुष्ट हो गयी थी। कुछ क्षणों तक यह छोटा सा श्रोता समुदाय आत्मविभोर सा मौन बैठा रह गया। उस विशाल कक्ष में सन्नाटा छा गया।

इन प्रेरक क्षणों में सोमावती के मानस में अनेक भाव-तरंगें उठने लगी थीं। उसने सविनय कहा कि इसने भोर में अपने हृदय की उथल-पुथल अनुभव की थी और संध्या होते-होते सारी उलझन सुलझ गयी। मैं आपकी अनुगृहीत हुई। व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित प्रश्न मैंने किया—कदाचित् मुझे नहीं करना था, किन्तु कुतूहल के अधीन मैं स्वयं को रोक न पायी—क्षमा करें, आपको इतना श्रम भी करना पड़ा, कदाचित् विस्मरणीय प्रसंगों को स्मरण करना पड़ा हो—इस पीड़ा के लिए दया के साथ मुझे क्षमा कर दें। किन्तु एक प्रश्न—छोटा सा प्रश्न और ।" संकोच के मारे सेठानी ने अपना कथन अपूर्ण ही छोड़ दिया।

साध्वी तरंगवतीजी ने सोमावती की स्थिति को गहराई के साथ समझ लिया था। उन्होंने इन क्षणों में उसमें आयी लघुता की भावना को दूर करना आवश्यक समझा और कहा कि सुनो, सेठानी तुमने प्रश्न किया यह अच्छा ही किया। ऐसा प्रश्न करने में कोई दोष नहीं। हमें

भी तुम जैसी श्रद्धालुओं की जिज्ञासा शान्त करने में भला पीड़ा या कष्ट क्या हो सकता है ! तुम्हें यदि सन्मार्ग की प्रेरणा मिले तो हमारा श्रम तो सार्थक हुआ । ऐसे श्रम से ही तो हमारे कर्त्तव्य-भावना की पूर्ति होती है । अतः तुमको किसी प्रकार की हीन भावना भी नहीं होनी चाहिये । तुमने कुछ भी अनुचित नहीं किया···फिर भला क्षमायाचना कैसी !! हाँ ? साध्वीजी ने उत्साहित करते हुए सोमावती से संकोच न करने को कहा और जानना चाहा कि उसका प्रश्न क्या है ? वह क्या जानना चाहती है ?

साध्वीजी के चरणों पर दृष्टि केन्द्रित कर सेठानी सोमावती ने आदर सहित, विनम्र स्वरों में कहा कि महासते ! आपश्री को तो अपार क्षमता है । आपने जो आत्मकल्याण का मार्ग अपनाया है—वह असाधारण है । हम जैसी साधारण नारियाँ भला उस मार्ग का अनुसरण क्या कर पाएँगी !! सम्भव ही नहीं है यह तो···किन्तु क्या हम जैसी साधारण, अति सामान्य नारियों की क्षमता के अनुरूप कोई मार्ग ऐसा नहीं है जिसके अनुसरण द्वारा हमें भी सच्ची सुख-शान्ति मिल सके, भवसागर से हम भी पार जा सकें । कृपा करें, हमें राह दिखाएँ, हमारा भी कल्याण करें ! जन्म-मरण का फेरा रोकने के लिए हमें क्या करना चाहिये ?

गम्भीरता का आवरण उतारते हुए साध्वी तरंगवतीजी ने सामान्य होते हुए सेठानी सोमावती को स्नेहपूर्वक सम्बोधित किया और कहा कि देखो, धर्माराधना के लिए घर-गृहस्थी को त्यागना अनिवार्य नहीं है । साधना पर केवल उनका ही अधिकार नहीं होता—जो विरक्त हो गये हैं । हाँ दोनों वर्गों की आराधना पद्धति में अन्तर हो सकता है । तुमने यह सत्य ही स्वीकारा है कि श्रावकों का सामर्थ्य सीमित होता है, श्रमणोचित नहीं हो सकता है, यह सत्य ही है । किन्तु गृहस्थजन भी आत्मकल्याण की साधना कर सकते हैं, सफलतापूर्वक कर सकते हैं । उनकी आराधना की तनिक सुगम और सरल पद्धति की निर्धारणा की गयी है । श्रमणोचित महाव्रतों का पालन सम्भव न होने के कारण श्रावकोचित द्वादश व्रत बताये गये हैं । साध्वीजी ने इन बारह व्रतों को व्याख्या की । सोमावती ने अपनी मण्डली सहित ये व्रत ग्रहण किये और इनकी पालना का संकल्प लिया ।

सेठानी ने नमनपूर्वक वन्दन किया । दो क्षण मुकुलित नयन, करबद्ध, मौन खड़ी रही और आशीर्वाद पाकर विदा हो गयी । मार्ग कैसे कट गया ···उसे कुछ ज्ञात हो न हो सका और उमंगित, उत्साहित वह अपने भवन पर पहुँची तो पाया कि पतिदेव नगरश्रेष्ठी धनपाल उसकी प्रतीक्षा कर रहे

हैं। इस प्रसन्नता का जब उन्होंने कारण जानना चाहा तो श्रेष्ठी को सोमावती ने सारा वृत्तान्त सुनाते हुए श्रावकोचित व्रत-ग्रहण की सूचना भी दी। श्रेष्ठी धनपाल को आत्मतोष हुआ। वे स्वयं तो धर्माचारी थे ही। अब संयोग से उनकी पत्नी भी उनके ही मार्ग पर उनके साथ चरण से चरण मिलाकर चलने के योग्य हो गयी है, सच्चे अर्थों में 'सहचरी' हो गयी है। वातायन से आ रही अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों में श्रेष्ठी दम्पति के मुख और भी दीप्तिमान हो उठे। सब कुछ वैसा ही था। भवन, कक्ष, वातायन सब कुछ वही। रेशमी परदे भी उसी तरह फरफरा रहे थे। श्रेष्ठिनी सोमावती का मानस अब वैसा नहीं रहा। वह तो मानसरोवर हो गया था जिसमें धर्म तरंगें लहरा रही थीं। उसके मुख पर आज सच्चे सुख की आभा व्याप्त थी। अविचल""मौन"" वह अपना संकल्प दोहराती रही। मंद पवन शीतलता वितरित करती रही। उसी समय भवन उद्यान से आया एक झोंका सुगन्धि फैला गया। श्रेष्ठिनी सोमावती को सब कुछ नया-नया लगने लगा।

ग्रन्थ में प्रयुक्त :

सूक्तियाँ और विचार

÷ धर्माचरण की लता में ही सुख-वैभव के फल-फूल आते हैं। अनीति और अविचार का विष इस लता को ही सुखा देता है।

÷ नीचे उतर कर ही सेवा-सत्कार सम्भव होता है। ऊँचाई तो दर्प की अनुभूति देती है।

÷ दैहिक, दैविक और भौतिक—त्रिविध ताप का शमन धर्म के लिए सुगम कर्म है।

÷ धर्म ही मनुष्य को 'मनुष्य' बना देता है; अन्यथा वह एक तुच्छ प्राणी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता।

÷ जीवन रूपी वृक्ष के लिए धर्म जड़ों के समान है। जीवन धर्म के आधार पर ही खड़ा रहता है, धर्म से ही वह पोषण प्राप्त करता है। धर्महीन जीवन शुष्क होकर ठूँठ हो जाता है।

÷ धर्म सुकर्म की प्रेरणा देता है, यही जीवन का संबल है, यही जीवन की सार्थकता है।

÷ धर्मशील व्यक्ति सदा समस्त संकटों से मुक्त रहता है। और वह अन्य प्राणियों के लिए भी सुख का कारण बनता है।

÷ नारी की महत्ता कोमलता से और नर की महत्ता पौरुष से होती है, किन्तु प्रेम दोनों ही का समान धर्म होता है।

÷ मनुष्य का शील ही उसके तन का सौन्दर्य बनकर व्यक्त हो जाता है। जो भीतर से सुन्दर नहीं, वह बाहर से भी सुन्दर नहीं लग पाता।

÷ समय सबसे बड़ा चिकित्सक होता है। यह तन के ही नहीं, मन के भी सभी घावों को भर देता है।

÷ घोर संकट के समय विवेक ही सच्चा साथी होता है। जिसने विवेक खो दिया, उसने सब कुछ खो दिया।

÷ मैत्री का तन्तु बड़ा कोमल होता है। शिकवा-शिकायत को लम्बा न करके ही इसे अटूट रखा जा सकता है।

÷ सच्चे मित्र अविचलित रहकर ही मित्रों का कष्ट दूर करने का प्रयत्न कर पाते हैं।

÷ प्रेम की कथा को जितनी बार दुहराया जाय, उतनी ही बार उसमें नवीनता का रस मिलता है।

÷ धर्माचरण और धैर्य मनुष्य को सभी संकटों से उबार लेते हैं। ये ऐसे साधन हैं जिनसे सभी दुस्साध्य भी सध जाते हैं और सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

÷ अन्तःप्रेरणा की शक्ति महान् होती है। वही सफलता के लिए सच्चा सामर्थ्य जगा सकती है।

÷ जब सफलता का विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तो श्रम और लगन स्वतः ही कई गुनी बढ़ जाती है। काम में मन रम जाना ही साधना है और सच्ची साधना कभी अकारथ नहीं जाती।

÷ आत्मविश्वास और उत्साह की सीढ़ियाँ ही मनुष्य को सफलता की ऊँचाई पर पहुँचाती हैं। लगन उसे सहारा देती है और धैर्य उसका हाथ थाम कर आगे बढ़ाता है।

÷ हर अच्छे कार्य में बाधाएँ आती हैं, किन्तु बाधाएँ अन्ततः दूर न हो जायँ तो वह अच्छा कार्य हुआ ही क्या !!

÷ वह क्या मनुष्य जो बाधाओं से कभी न जूझना न जाने ! संघर्ष ही सफलता का जनक है।

÷ धन से सुविधाएँ मिल सकती हैं, सुख और आनन्द नहीं।

÷ एक अभाव अनेक कुभावों को जन्म देता है।

÷ शिथिल होकर भाग्य भरोसे बैठे रहने की अपेक्षा समस्या के समाधान का उपाय किया जाना चाहिए। उपाय न करना भी पलायन का ही एक रूप है।

÷ जो सुख अपने लिए नहीं बना है, उसकी कामना ही दुःख का मूल है।

÷ परस्पर विश्वास ही प्रेम-बल्लरी को सींचता है। सन्देह का विष तो उसके मूल में पहुँच कर उसे सुखा डालता है।

÷ दूसरों के सुख से सुखी होना सीखो। जिसने यह सीख लिया वह जीवन और जगत् के व्यवहारों का ज्ञानी हो गया। जिसने इसका आचरण किया—वह धार्मिक प्रवृत्ति का हो गया।

॥ इतिश्री ॥